TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180163

UNIVERSAL
LIBRARY

सरस्वती-सिरीज़ नं० ७

# मेरा संघर्ष

गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०

प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

प्रथम संस्करण, दिसम्बर १९४०
पुनर्मुद्रण जनवरी १९४१
,, मार्च १९४१
,, जून १९४१

## सरस्वती-सिरीज़

**स्थायी परामर्शदाता**—डा० भगवानदास, पण्डित अमरनाथ झा, भाई परमानंद, डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, संत निहालसिंह, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबू संपूर्णानन्द, श्री बाबूराव विष्णुपराड़कर, पण्डित केदारनाथ भट्ट, ब्यौहार राजेन्द्रसिंह, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री जैनेन्द्र कुमार, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, पण्डित क्षेत्रेश चटर्जी, डा० ईश्वरीप्रसाद, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० परमात्माशरण, डा० बेनीप्रसाद, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित रामनारायण मिश्र, श्री संतराम, पण्डित रामचन्द्र शर्मा, श्री महेशप्रसाद मौलवी फ़ाज़िल, श्री रायकृष्णदास, बाबू गोपालराम गहमरी, श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क", डा० ताराचंद, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश, श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, रायसाहब पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित सुमित्रानन्दन पंत, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पण्डित मोहनलाल महतो, श्रीमती महादेवी वर्मा, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बाबू रामचन्द्र टंडन, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, बाबू कालिदास कपूर, इत्यादि, इत्यादि।

# पहला परिच्छेद

## माता-पिता के पास

आज ऐसा जान पड़ता है मानो दैवयोग से ही मेरा जन्म इन नदी के किनारे ब्रॉनॉ नामे के क़सबे में हुआ था; क्योंकि यह क़सबा उन दो राष्ट्रों की सरहद पर बसा हुआ है जिनका एकीकरण, हम नवयुग के लोगों के लिए, चाहे जिन उपायों से हो, मुख्य कर्त्तव्य है। जर्मन-आस्ट्रिया को महान् जर्मन मातृ-भूमि में सम्मिलित करना ही होगा, चाहे जैसे हो।

इस दृष्टि से यह छोटा-सा सीमा पर का क़सबा मुझे उस महान् कर्तव्य की निशानी-सा जान पड़ा। मेरे पिता एक हाकिम थे और बड़े कर्त्तव्य-परायण थे। मेरी माता गृहस्थी की देख-भाल करती थीं और बच्चों का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से करती थीं। इसके बाद से उस क़सबे के सम्बन्ध में मेरी स्मृति बहुत धुंधली है; क्योंकि मेरे पिता का तबादला पाँसाँ नामक स्थान में हो गया था जो कि खास जर्मनी में है। उन दिनों यह एक नियम-सा हो रहा था कि आस्ट्रिया के हाकिम लोग एक जगह से दूसरी जगह बराबर बदले जाया करते थे। कुछ ही दिन बाद मेरे पिता की नियुक्ति लिंज़ नामक स्थान में हो गई।

मेरे पिता एक ग़रीब आदमी के लड़के थे जो एक मामूली से झोपड़े में रहते थे। लड़कपन में ही उनका जी वहाँ से ऊबा और वे घर छोड़कर भाग खड़े हुए। उन्होंने पहले वियना में जाकर कोई पेशा सीखा। उन्हें पादरी का काम सबसे अधिक प्रतिष्ठित जान पड़ा। पर उस महानगरी के जीवन का उनके विचारों पर काफ़ी प्रभाव पड़ा और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सरकारी अफ़सर होने से बढ़कर और कोई पद नहीं है।

अस्तु, तेईस वर्ष की अवस्था में उन्हें हाकिम का पद मिला, जिसकी महत्त्वाकांक्षा उन्हें इतने दिनों से थी। इन्हीं दिनों, पहले-पहल मैंने अपने लिए कुछ आदर्श उपस्थित करने आरम्भ किये। मुझे बाहर, खुले मैदानों में लड़कों के साथ घूमने में बहुत मज़ा आता था। मेरे साथियों में कुछ परले सिरे के उद्दंड थे। इससे मेरी माता प्रायः चिन्तित रहा करती थीं। मैं इन लड़कों का नेता था। अपने अध्यापकों की सम्मति में मैं पढ़ने-लिखने में तो तेज़ था, पर मुझे नियन्त्रण में रखना कठिन था। समय पाने पर मैं गिरजे मे गाने का अभ्यास किया करता था। मैं उन दिनों गिरजे के सबसे बड़े पादरी के पद को ही, मनुष्य के लिए, सबसे बड़े गौरव की वस्तु समझता था; ठीक वैसे ही जैसे मेरे पिता ने गाँव के पादरी को सबसे बड़ा आदमी समझा था। कम से कम कुछ दिन तक तो मेरी यही धारणा रही। मैं प्रायः पिता जी से बातों-बातों में बहस कर बैठता था। पर इससे उन्होंने यह निष्कर्ष नही निकाला कि सुयोग मिलने पर मै अच्छा वक्ता बन सकूँगा। मेरे चरित्र में कुछ ऐसी परस्पर-विरोधी बातें थीं कि पिता जी मेरे सम्बन्ध में प्रायः चिन्तित रहते थे।

अन्त में यह निश्चय हुआ कि मै पढ़ूँ। मेरे सम्बन्ध मे पिता जी इस निर्णय पर पहुँचे कि वहाँ पर प्राचीन साहित्य की जो शिक्षा मिल सकती थी वह मेरे अनुकूल नहीं थी। ड्राइंग की ओर मेरी स्वाभाविक रुचि थी। अन्त में उन्होंने यही तय किया कि मुझे दूसरे प्रकार की उपयोगी कलाओं की ओर लगाया जाय। फिर भी वे मुझे अपने ही जैसा पदाधिकारी बनाना चाहते थे। अपने पुरुषार्थ से जीवन में सफल होनेवाले लोगों की कुछ आदत-सी होती है कि वे अपने ही मार्ग पर अपनी सन्तति को भी ले जाना चाहते हैं। फिर पिता जी, चाहने पर, मेरी नियुक्ति भी किसी पद पर करा सकते थे। उस समय उन्हें इस प्रकार की सुविधायें प्राप्त भी थी। पर होनहार कुछ और ही था। यद्यपि मेरी आयु उन दिनों केवल ग्यारह वर्ष की थी, पर मैं था

परले सिरे का ज़िद्दी। पिता जी मुझे अपनी लाइन की ओर ले जाने की जितनी ही चेष्टा करते थे, उतना ही मैं उससे दूर भागता था। मुझे यह सोचकर ही ज्वर-सा चढ़ जाता था कि मुझे कभी दफ़्तर की कुर्सी पर बैठकर दूसरों के आज्ञानुसार फ़ार्म भरते हुए अपना जीवन बन्धन में बिताना होगा। मैं किसी तरह का बन्धन नहीं सहन कर सकता था।

साधारणतया मैं अच्छा लड़का नहीं था, जैसी कि जन-साधारण की मेरे विषय में राय थी। स्कूल में जो काम मुझे घर पर करने को दिया जाता था वह इतना आसान जान पड़ता था कि उस पर मुझे हँसी आती थी। उसे निबटाकर मैं अपने समय का अधिकांश भाग, घर से बाहर, उन्मुक्त वातावरण में बिताता था। आज मेरे राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी मेरे लड़कपन की उन निंद्य चालों को ढूंढ़ निकालने के लिए व्यग्र रहते हैं जिनसे मैं अपने साथियों को नीचा दिखाया करता था। पर लड़कपन के उन दिनों को मैं न भूलूँगा। उन्होंने हमें बहुत कुछ सिखाया। यह वह समय था जब कि आपस के सब झगड़े खुले मैदानों में लड़कर निबटाये जाते थे।

'आख़िर मैं होना क्या चाहता था?' तंग आकर पिता जी ने एक दिन पूछा। मैं मन ही मन चित्रकार होने का संकल्प कर चुका था और उनके प्रश्न करने पर मैंने अनायास ही अपना निश्चय उन्हें सुना दिया। 'क्या? चित्रकार! आर्टिस्ट!!' वे मानो आसमान से गिरे। संभवतः उन्हें सन्देह हुआ कि कहीं मेरा दिमाग न ख़राब हो गया हो। पर जब उन्हें विश्वास हो गया कि मेरे होश-हवास ठीक हैं और मैंने सचमुच चित्रकार होने का निश्चय कर लिया है तो वे बड़े दुःखित हुए। मुझे भी कम दुःख नहीं हुआ; क्योंकि मैं सचमुच उन्हें प्यार करता था। पर अपने विचारों को मैं और भी अधिक प्यार करता था। अंत में झल्लाकर मैंने कह दिया कि मैं कुछ भी नहीं पढ़ूँगा।

स्कूल की पढ़ाई मुझे अच्छी न लगती थी। जो विषय मुझे

अच्छे लगते थे उन्हें तो मैं चुटकी बजाते याद कर लेता था, पर औरों को मैं छूता तक न था। जिन विषयों को मैं चित्रकला के लिए उपयोगी समझता था उन्हें छाँट लेता था और शेष को छोड़ देता था। मेरा सबसे प्रिय विषय था भूगोल, और इससे भी अधिक विश्व-इतिहास। इन दोनों में मैं क्लास में सबसे आगे था।

अपने पिछले अनुभवों को याद करने पर दो बातें मुझे स्पष्ट दिखाई देती हैं। एक तो यह कि मैं एक जातीयतावादी (नेशनलिस्ट—Nationalist) बन गया था; दूसरे यह कि मैंने इतिहास का वास्तविक मर्म समझना सीख लिया था।

प्राचीन आस्ट्रिया में बहुत-सी जातियाँ रहती थीं। रीख़ के जर्मन इस बात को नहीं समझते थे कि आस्ट्रिया एक जर्मन-राष्ट्र था। ख़ास जर्मनी के रहनेवालों में से भी बहुत थोड़े ऐसे थे जिनको उस भीषण संघर्ष का कुछ ज्ञान था जो पूर्वीय जर्मनीवालों को जर्मन-भाषा, जर्मन-स्कूल तथा जर्मन-चरित्र की रक्षा के लिए करना पड़ता था।

भाषा-सम्बन्धी झगड़ों में जो कुछ सदा और सर्वत्र हुआ करता है, प्राचीन आस्ट्रिया में भी हुआ। इस झगड़े का सबसे भद्दा रूप स्कूलों में देखने में आता था। सबसे पहले जर्मन बच्चों को सिखाया जाता था—"जर्मनी के बच्चो, याद रक्खो कि तुम जर्मन हो और बेटियो, याद रक्खो कि एक दिन तुम्हें जर्मन-माता बनना है।"

जिन्हें बाल-मनोवृत्ति का कुछ भी पता है वे भली भाँति समझेंगे कि इस तरह की बातों का बड़ा गहरा और स्थायी प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। और हुआ भी ऐसा ही। वे बच्चे ग़ैर-जर्मन-गीतों को याद करने से इनकार कर देते थे तथा ग़ैर-जर्मन शिक्षकों की बातों पर ध्यान नहीं देते थे।

इस प्रकार बहुत थोड़ी आयु में ही मैं जातीयतावादियों (नेशनलिस्ट) के उस संघर्ष में भाग लेने लगा जो उन्हें आये दिन, एक दूसरे के विरुद्ध, पुरानी आस्ट्रिया में चलाना पड़ रहा था। हमें

सज़ायें मिलती थीं, चेतावनियाँ दी जाती थीं; पर हम लोग एक दूसरे को जर्मन संबोधन 'हेल' शब्द से ही संबोधित करते थे और आस्ट्रिया के राष्ट्रीय गीत के स्थान पर अपना जातीय गीत गाते थे।

नेशनलिस्ट दिशा की ओर मैं तीव्र गति से बढ़ता जा रहा था। पंद्रह वर्ष की आयु में ही मैंने कौटुंबिक प्रेम और जातीय प्रेम के भेद को भली भाँति समझ लिया। जातीय प्रेम का आधार समष्टि रूप से समग्र राष्ट्र और लोकहित की कामना होता है और मेरा सम्मान इसी ओर बढ़ चला।

सन् १९१८ में जब हैब्सबर्ग घराने का आस्ट्रियन राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो गया, तब एक स्वर से आस्ट्रियावासी जर्मनों ने जर्मनी के साथ अपने को सम्मिलित कर लिये जाने की आवाज़ उठाई। पर इस भावना के मूल में वह पुरानी इतिहास की शिक्षा थी जो पहले आस्ट्रियावासी जर्मनों को मिली थी।

मिडिल स्कूलों में विश्व-इतिहास की शिक्षा का ढंग अब भी नितांत असंतोषजनक है। बहुत थोड़े से ऐसे इतिहास के अध्यापक हैं जो इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि इतिहास की शिक्षा में कुछ तिथियों और घटनाओं को रटा देने के सिवा और भी कुछ है।

इतिहास के अध्ययन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि उन शक्तियों को खोज निकाला जाय और उनका कार्य-कारण-सम्बन्ध भली भाँति समझ लिया जाय जिनके कारण वे घटनायें घटीं। अध्ययन और मनन के अर्थ ये हैं कि जो कुछ सारभाग है वह स्मरण रक्खा जाय और शेष को भुला दिया जाय।

मेरे समूचे भविष्य-जीवन का ढाँचा संभवतः इस एक तथ्य से तैयार हुआ कि मुझे इतिहास के एक ऐसे शिक्षक मिल गये जो ऐतिहासिक तथ्यों को इस रूप में समझते थे जिस रूप में बहुत कम लोग समझते हैं। पढ़ाते समय वे अपने दृष्टि-कोण को उसी सफलता के साथ हम लोगों को हृदयंगम करा देते थे। उनकी पैनी दृष्टि सहस्रों

वर्ष पूर्व की घटनाओं के धुंधले वातावरण को भेदकर उनके अंतस्तल पर ऐसी ठीक जमती थी कि वे अतीत को सजीव वर्त्तमान का रूप देकर हम लोगों के सामने खड़ा कर देते थे। उनको सुनते समय हम लोग प्रायः आँसू बहा देते थे। ऐसे सुयोग्य शिक्षक मिल जाने के कारण इतिहास मेरा प्रिय विषय हो उठा। मैं प्राचीन जर्मनी के शासनाधिकारियों का विद्रोही हो उठा, जो स्वाभाविक ही था। मेरी धारणा है कि जो कोई उपर्युक्त शिक्षक की देख-रेख में तत्कालीन जर्मनी की हीनावस्था के कारणों को समझता उसी में विद्रोह की भावना प्रबल हो उठती।

हैब्सबर्ग घराने की पुरानी नीति के सम्बन्ध में इतिहास में हमने जो कुछ पढ़ा था, उसका समर्थन उन घटनाओं से प्रतिदिन होता रहता था जो आये दिन देखने को मिल रही थीं। उत्तर और दक्षिण में अन्य जातियाँ जर्मनजाति को खा रही थी। शासकवर्ग में सब प्रकार से ज़ेकों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा था। यहाँ तक कि वियना में भी जर्मनों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। जर्मनों के ऊपर भीषण अत्याचार हो रहे थे। जान-माल की जितनी क़ुर्बानी जर्मनों को विवश होकर करनी पड़ रही थी, वह कल्पनातीत है। यों तो हैब्सबर्ग घराना बाह्य रूप से यह विश्वास दिलाता रहता था कि आस्ट्रिया एक जर्मनराष्ट्र है पर उसकी धूर्तता अब किसी से छिपी न रही और उनके विरुद्ध लोगों के दिलों में घृणा और विद्रोह की भावना बढ़ती ही जा रही थी।

बहुत थोड़ी उम्र में ही मेरी कुछ निश्चित धारणायें बन गई थीं जो सदैव स्थिर बनी रही। उनमें से एक तो यह थी कि जर्मन जाति की रक्षा के लिए आस्ट्रिया का विनाश अनिवार्य है, दूसरी यह कि जातीय भावना वंशगत देश-भक्ति से जुदा चीज़ है और तीसरी यह कि हैब्सबर्ग घराना जर्मनी पर अवश्य ही एक दिन विपत्ति का पहाड़ गिरावेगा।

इन्हीं सब बातों के कारण पिता जी ने जो लाइन मेरे लिए निश्चित कर रक्खी थी उसके प्रति मेरे मन में बड़ी घृणा उत्पन्न हो गई। मैं

चित्रकार होने का निश्चय कर चुका था और संसार की कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो मुझे इस निर्णय से हटा सके। दिन-दिन मेरी यह धारणा दृढ़तर हो चली कि मैं सरकारी हाकिम या अफ़सर के रूप में कभी सुखी नहीं हो सकूँगा। समय की गति के साथ-साथ मैं स्थापत्य-कला में अधिकाधिक दिलचस्पी लेने लगा। मैं मन ही मन यह सोचकर खुश हुआ कि यह मेरे चित्रकला-प्रेम का स्वाभाविक विकास है। पर इस समय कौन कह सकता था कि भविष्य ने मेरे लिए कोई और ही मार्ग सोच रक्खा है।

पर मेरे भविष्य का निर्णय इतनी शीघ्रता से हो गया जितने की मुझे आशा नहीं थी।

जब मैं तेरह साल का था, मेरे पिता की मृत्यु हो गई। उसके बाद मेरी माता ने, मेरे पिता के निश्चय के अनुसार, मुझे हाकिमी लाइन के अनुरूप शिक्षा दिलाना अपना कर्तव्य समझा। पर इसी बीच मेरी बीमारी इस समस्या में मेरी सहायक हुई। मेरी इस बीमारी से भयभीत होकर मेरी माता ने अन्त में आज्ञा दे दी कि मैं रियल स्कूल छोड़कर एके-डेमी में नाम लिखाऊँ।

वे दिन बड़े आनन्द के थे जो अब मुझे स्वप्न-से जान पड़ते हैं। पर वे सचमुच स्वप्नवत् ही सिद्ध हुए। दो वर्ष बाद मेरी माता की अचानक मृत्यु ने मेरे सारे मनसूबों को एकबारगी ढा दिया। यद्यपि उनकी मृत्यु असंभावित नहीं थी, पर इससे मुझे गहरी ठेस लगी। मैं पिता का सम्मान करता था पर माता को प्यार!

---

# दूसरा परिच्छेद

## वियना में अध्ययन और विपत्तियों के दिन

माता जी की मृत्यु के बाद मैं तीसरी बार वियना गया। अब की बार मुझे कई साल तक यहाँ रुकना पड़ा। अपने इस वियना-वास को मैं अब बहुत अच्छा समझता हूँ; क्योंकि यहाँ पर झेली हुई विपत्तियों ने मुझे सदा के लिए दृढ़ बना दिया।

यहाँ रहते-रहते मुझे पहले-पहल जान पड़ा कि जर्मन लोगों को दो बातों से बहुत डरना चाहिए—मार्क्सवाद और यहूदीवाद। ये दोनों जर्मनों का अस्तित्व ही मेट देने पर तुले हुए थे।

यों वियना बड़ा शानदार शहर है। वह विलास की लीला-भूमि और रँगरेलियों का अड्डा माना जाता है। पर मैं जब इसकी याद करता हूँ तो दुःख से भर जाता हूँ। मैंने यहाँ जीवन के पाँच वर्ष बिताये। आरम्भ में तो मैं मज़दूरी से पेट भरता था; पर कुछ दिन बाद मुझे चित्रकला-सम्बन्धी कुछ काम मिलने लगा, जिससे किसी तरह काम चल जाता था।

इस मेहनत-मज़दूरी से जो कुछ समय मैं बचा पाता उसे पढ़ने में लगाता। कुछ ही दिनों में मैंने अनेक विषयों का अध्ययन कर डाला; और वह अध्ययन आज तक मुझे काम दे रहा है। मैं पढ़ता बहुत था और जो कुछ पढ़ता था उस पर बहुत देर तक विचार किया करता था।

इस अध्ययन से ज्ञान-प्राप्ति तो हुई ही पर एक और मार्के की बात हुई। मेरे मन में जीवन और संसार का एक ख़ास दृष्टिकोण तैयार होने लगा। यही दृष्टिकोण आगे चलकर भविष्य के लिए मेरा पथ-प्रदर्शक बना। मैं आज तक अपना दृष्टिकोण बदल नहीं सका हूँ।

उस काल की घटनायें अब बहुत कम स्मरण रह गई हैं। पर इतना मुझे याद है कि उन दिनों काम बड़ी मुश्किल से मिलता था।

वियना क्या यूरोप के प्रायः सभी भागों में बहुत-से विदेशी आकर बस रहे थे और इनका एक बड़ा प्रबल गुट्ट बन गया था जिसके कारण वहाँ के वास्तविक अधिवासियों को रोटियों के लाले पड़ रहे थे।

क्रमशः मैं राजधानी वियना के दैनिक जीवन में इतना प्रविष्ट हो गया कि वहाँ के बहुत-से गुप्त भेद मेरी समझ में आने लगे। ज्यों-ज्यों मैं वहाँ के आभ्यन्तरिक जीवन को समझने लगा त्यों-त्यों वहाँ की बुराइयाँ स्पष्ट होने लगीं।

सबसे पहले मेरा ध्यान वहाँ के मकानों की ओर आकर्षित हुआ। खासकर वहाँ के मज़दूरों और कामकाजी लोगों के रहने की जगहें तो मानो नरक का नमूना थीं। एक उदाहरण देता हूँ। कल्पना कीजिए कि सीड़ से भरे हुए दो छोटे कमरे किसी बड़ी इमारत के सबसे नीचे के तल्ले में है। इन्ही में एक पूरे मज़दूर परिवार की गृहस्थी है—स्त्री-पुरुष और चार-पाँच बच्चे। एक बच्चा गोद में भी है। दो-एक बच्चे तथा उनकी माता प्रायः बीमार रहती है। चारों ओर गन्दगी और घोर नैतिक पतन का साम्राज्य है। हवा और प्रकाश नाम को नहीं। पुरुष प्रायः रात को शराब के नशे में चूर घर लौटता है। स्त्री उधार लेकर दो-तीन दिन काटती है, इस आशा में कि सप्ताह के अन्त में जिस दिन वेतन मिलेगा, सबका ऋण चुका दिया जायगा। पर उस दिन उसका पति खूब पीकर और हफ़्ते भर की कमाई शराब और जुआ में स्वाहा कर खाली हाथ घर लौटता है। इसी वातावरण में इन श्रमिकों के बच्चे पलते है। पाँच-छः वर्ष की अवस्था से उन्हें चोरी करने, सिगरेट पीने आदि की बान पड़ जाती है।

इस प्रकार के वातावरण में पले हुए बच्चे भविष्य में क्या होंगे, इसका अनुमान किया जा सकता है। सिवा नैतिक पतन और दुर्गुणों के और किसी प्रकार की शिक्षा पाने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। इसी रूप में बड़े होकर वे जीवन में प्रवेश करते हैं।

यह दुर्दशा देखकर मेरी समझ में एक बात आई। वह यह थी—

किसी भी जाति को जातीयता के सूत्र में संगठित करने के लिए सबसे आवश्यक है उसकी सामाजिक स्थिति को भली भाँति सुधारना। समाज के प्रत्येक प्राणी की शिक्षा का प्रबन्ध कुछ ऐसे ढंग से करना होगा कि वह अपने देश के आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्त्व को भली भाँति समझ सके। जब वह इन बातों के गौरव को ठीक-ठीक समझ सकेगा, तभी सच्चा देश-प्रेम उसमें उत्पन्न हो सकेगा।

समाजिक प्रश्न की ओर मेरा ध्यान जाते ही मैंने इसके गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता समझी। ज्यों-ज्यों मैं इस प्रश्न की तह में पहुँचने लगा, मैंने अपने सामने एक नया ही संसार देखा जिसका अभी तक मुझे पता न था।

सन् १९०९-१० तक मैंने अपनी निजी अवस्था इतनी सुधार ली थी कि अपनी जीविका के लिए मुझे मज़दूरी नहीं करनी पड़ती थी। मैं स्वतन्त्र रूप से चित्रकार का काम करता था।

सामाजिक प्रश्न के अध्ययन के साथ ही साथ मेरी रुचि स्थापत्य-कला (गृहनिर्माण-कला) की ओर भी बढ़ने लगी। यहाँ तक कि मुझे पक्का विश्वास हो गया कि मैं एक दिन इस कला मे नाम पैदा करूँगा।

युवावस्था के प्रारंभ से ही मुझे यह अभ्यास पड़ गया था कि जो कुछ मैं पढ़ता उसे उचित रीति से ही पढ़ता। वियना के दैनिक जीवन को देखते-देखते मुझे वहाँ के प्रत्येक प्रश्न को हर पहलू से समझने की धुन पैदा हुई। इस अवसर पर सामाजिक प्रश्न के सिवा मुझे दो नितान्त महत्त्वपूर्ण विषयों के अध्ययन की आवश्यकता जान पड़ी। ये विषय थे—मार्क्सवाद और समाजवाद।

सत्रह वर्ष की अवस्था तक मैं मार्क्सवाद के सम्बन्ध में बहुत थोड़ी जानकारी रखता था। समाजवाद और सामाजिक गण-तंत्रवाद को मैं एक ही वस्तु के दो नाम समझता था।

अभी तक सामाजिक गणतन्त्रवाद दल से मेरा परिचय केवल एक दर्शक के रूप में था। पहले-पहल मैं इस पार्टी के संपर्क में उस समय

आया, जब मैं राजगीरी का काम करता था। उस समय तक मैं मज़दूर-संघों से बिलकुल परिचित न था। इनकी आवश्यकता या उपादेयता के संबंध में मैं कोई राय नहीं रखता था। पर जब मुझसे कहा गया कि मुझे अवश्य इसका सदस्य बनना चाहिए तो मैंने तुरन्त इनकार कर दिया। इस अस्वीकृति का कारण मैंने केवल यही बताया कि जिस संस्था को मैं ठीक-ठीक समझ-बूझ नहीं सका हूँ उसका सदस्य कैसे बन सकता हूँ? कुछ हफ़्ते काम करने के बाद मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हो गई। बिना जाने पहले मैं इसमें शायद सम्मिलित हो भी जाता, पर ज्यों-ज्यों मैं इसके वास्तविक रूप को समझने लगा, मैंने इससे अलग रहना ही उचित समझा। ये लोग करते यह थे कि दोपहर को, भोजन के समय, कहीं एक जगह इकट्ठे हो जाते और वहाँ राजनीतिक बहस छेड़ते। पहले तो मैं इस वाद-विवाद से दूर रहता, पर कुछ दिन बाद ऐसा करना असंभव-सा हो गया। तब मैंने इसके विस्तृत अध्ययन का निश्चय किया और इसके संबंध में जितनी किताबें, परचे या पैंफलेट आदि मिल सके खरीदकर बड़ी तत्परता से पढ़ने लगा। क्रमशः मेरी जानकारी बढ़ चली। पर अभी तक मैं इनके दल में सम्मिलित नहीं हुआ था। अंत में एक दिन यह नौबत आई कि इनके लीडर में से एक ने कहा कि या तो इसमें नाम लिखाओ नहीं तो बरामदे पर से नीचे ढकेल दिये जाओगे। मैंने तुरन्त वहाँ का काम छोड़ दिया।

मुझे एक जगह फिर काम मिला, पर उसी कारण इसे भी छोड़ना पड़ा। मेरा मन इनके प्रति घृणा से भर गया। क्या ये एक बड़ी जाति के वंशधर कहलाने के पात्र हैं? मेरे मन में प्रश्न उठा। उन दिनों की भयानक उलझनों से मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि ऐसे लोग अपनी जाति के लिए कलंक-स्वरूप हैं।

दो वर्ष से कम में ही सोशल डेमोक्रेसी (सामाजिक जनसत्तावाद) के रहस्य को मैं भली भाँति समझ गया। इनके नेताओं की रीति यह थी कि मध्यवर्ग के लोगों को ये अपना शिकार बनाते थे। ज्यों ही

कोई शिकार चुना गया कि प्रेसों में उसके विरुद्ध एक झूठा बवंडर खड़ा कर दिया। अंत में उसको मटियामेट करके ही ये लोग दम लेते थे। कभी-कभी ये मध्यवर्गवाले श्रमिक संघ के नेताओं से भिड़ भी जाते थे, पर मैदान ट्रेड यूनियन (श्रमिक-संघ) वालों ही के हाथ रहता था। इसमें मूर्खता मध्यवर्गवालों की ही थी। ट्रेड यूनियन की कुछ न्यायोचित और छोटी-छोटी माँगों को पूरा करने में भी ये अपनी हेठी समझते थे। और यह कारण था कि ट्रेड यूनियन का अस्तित्व उपयोगी माना जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की सदस्य-संख्या बढ़ाने में यह श्रमिक-संघ ही प्रधान सहायक हुआ। मध्यवर्गवाले राजनीतिज्ञ श्रमिक-संघ-आंदोलन के महत्त्व को समझते ही न थे या समझना चाहते ही न थे। इसी स्थिति से लाभ उठाकर सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने श्रमिक-आंदोलन को पूरी तरह से अपना लिया और विरोधी दल ने इसका विरोध तक करने की आवश्यकता न समझी।

कुछ ही वर्षों बाद सोशल डेमोक्रेसी ने श्रमिक-आंदोलन को ऐसा हथकंडा बनाया कि, जनसत्ता की रक्षा के नाम पर, इससे समूची जाति के आर्थिक स्वत्वों के विनाश का काम लिया जाने लगा। इस उद्देश्य की सिद्धि में श्रमिकों के स्वत्व कभी बाधा नहीं डालने पाते थे। राहु की भाँति प्रत्येक व्यक्ति के सिर पर फ़्री ट्रेड यूनियन का आतंक छा रहा था। इससे ऐसा भय और आतंक फैला कि समूचे राष्ट्र की नींव डाँवाडोल हो चली और समाज के किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता असम्भव हो चली। इसी 'फ़्री ट्रेड यूनियन' के आशीर्वाद से सोशल डेमोक्रेसी एक उपहास की सामग्री बन गई।

मैं जितना ही सोशल डेमोक्रेसी के बाहरी रूप को समझने लगा, उतना ही इसके भीतरी रहस्य को पूर्ण रीति से जान लेने की इच्छा प्रबल हुई।

इसी बीच मुझे यहूदियों और रक्तविनाशकारिणी संस्थाओं से इनके सम्बन्ध का पता चला। अभी तक इनके बारे में मेरी जानकारी

नहीं के बराबर थी। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई कि सोशल डेमोक्रेसी के वास्तविक उद्देश्यों को समझने के लिए पहले यहूदियों को समझना होगा।

इस समय मुझे याद नहीं कि पहले-पहल 'यहूदी' शब्द मैंने किस सिलसिले में सुना। अपने माता-पिता के जीवन-काल में मैं इस शब्द से अपरिचित था। मेरे स्कूल में एक यहूदी लड़का था। हम लोग उससे कुछ अलग से रहते थे, पर यह केवल इस कारण कि वह स्वयं हम सबसे उदासीन रहता था और उसकी कुछ आदतें हम लोगों से अनोखी थीं। इसके सिवा मैं और मेरे साथी उसके बारे में कोई खास राय नहीं रखते थे।

क्रमशः जब मैं वियना के जीवन में अभ्यस्त हो गया तब मेरा ध्यान यहूदी-समस्या की ओर गया। अभी तक मेरी यही धारणा थी कि यहूदी एक दूसरे धर्म का प्राणी है और इसी लिए उसके विरुद्ध कोई राय क़ायम करना आवश्यक नहीं है। और इस कारण मेरी धारणा यह हुई थी कि वियना के यहूदी-विरोधी पत्रों ने जो रुख धारण किया है वह महान् जाति को शोभा नहीं देता। पर धीरे-धीरे इनका असली रूप स्पष्ट होने लगा। अब मैं इनकी टोह में रहने लगा और इनकी गति-विधि को ध्यान से देखने लगा। जितना ही मैं इनको देखता उतना ही मुझ पर प्रकट होने लगा कि ये लोग हमसे कितने अलग—कितने भिन्न—हैं।

पर इनके सम्बन्ध में मेरी पक्की राय तब बनी जब मैंने इनके 'यहूदीवाद' के प्रबल आन्दोलन को देखा और समझा। इस आन्दोलन का उग्र रूप वियना में ही प्रकट हुआ।

इनके विरुद्ध मेरी प्रबल धारणा उस समय बनी जब कि मेरा दृढ़ निश्चय हो गया कि 'यहूदीवाद' का मुख्य उद्देश्य यहूदियों के जातीय रूप को व्यक्त करना और उसकी जड़ जमाना है। पर इससे भी अधिक क्षोभ तब हुआ जब मैंने इनके व्यक्तिगत जीवन की बहुत-सी

बातों को देखा और समझा। कोई भी सन्देहजनक काम ऐसा नहीं होता था जिसकी जड़ में कोई यहूदी न हो। सारांश यह कि राष्ट्र की सारी बुराइयों, विशेषतः सांस्कृतिक जीवन-सम्बन्धी बुराइयों के लिए मैं यहूदियों को ही उत्तरदायी समझने लगा। मेरी धारणा इनके प्रति और उग्र हो गई जब मैंने पत्र में इनके द्वारा किये गये घातक प्रचार की ओर ध्यान दिया। ये लोग अपने से भिन्न मतावलम्बियों को बदनाम करने के लिए कोई बात उठा नहीं रख रहे थे। इन्होंने ज़बर्दस्त पत्रकारों को अपने पक्ष में कर लिया था और इनकी सहायता से जर्मन-सभ्यता और संस्कृति पर प्रहार हो रहा था। मैं इस विरोधी प्रेस की छानबीन में बड़ी तत्परता से लग गया। मैंने बड़ी सावधानी से उन लोगों के नामों का पता लगाया जो इस प्रचार-कार्य में मुख्य भाग ले रहे थे और सर्वसाधारण की सभ्यता और संस्कृति को दूषित कर रहे थे। क्रमशः हज़ारों ऐसी बातें हमारे सामने आईं जो हमारे दैनिक जीवन को विषाक्त बना रही थीं और जो पहले हमारी निगाह में नहीं पड़ी थीं। पत्रों की नरम नीति को भी मैं अब दूसरे दृष्टिकोण से देखने लगा। इनकी चाल यह थी कि अपने विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर ये बड़े शानदार ढंग से देते थे और बहुत-सी मामूली बातों के सम्बन्ध म मौन रहना ठीक समझते थे। यहूदी लेखकों की ये भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे और जर्मन लेखकों की बड़ी कटु आलोचना किया करते थे। इन पत्रकारों के ताने में ही एक विदेशीपन टपकता था जो कि खुल्लमखुल्ला जर्मनों के विरुद्ध पड़ता था।

फिर एक ऐसी बात हो गई कि जिससे मैंने बहुत शीघ्र अपना मत स्थिर कर लिया। वियना के दैनिक जीवन में, सड़कों में, वेश्यालयों में, शिष्ट-समाज के लोगों के घरों में, सभी जगह यहूदी-विष प्रवेश कर गया था।

वेश्या-व्यापार और नारी-अपहरण के व्यापार (White trade) में यहूदियों का ज़बर्दस्त हाथ था। रात में वियना के कुछ ख़ास

मुहल्लों में इन यहूदियों के जो कारनामे मैंने देखे उससे मेरे क्रोध का ठिकाना न रहा।

अब मुझे निश्चय हो गया कि सोशल डेमोक्रेसी के कर्णधार यहूदी ही थे। ये ज्यादा पर्दे की आड़ से अपना शिकार खेलते थे, पर सब बुराइयों की जड़ में यही थे। इस पार्टी के वे सभी पत्र यहूदियों के हाथ में थे जिनको कि 'जातीय' या 'राष्ट्रीय' कहा जा सकता था। प्रकाशक से लेकर कंपोजीटर तक इन पत्रों में काम करनेवाले सभी यहूदी होते थे। मैंने इनके सभी पत्रों और प्रकाशनों को बड़ी लगन से पढ़ा। पर जितना ही पढ़ता, उतना ही मेरा क्षोभ बढ़ता जाता था। अंत में मुझे निश्चय हो गया कि यहूदी जर्मन नहीं हैं।

मैंने साल भर, कठिन परिश्रम से, मार्क्सवाद के सिद्धांतों का मनन किया और मुझे अब विश्वास हो गया कि मैं अपनी जानकारी के बल पर जनता का कुछ उपकार कर सकूँगा। मुझे निश्चय था कि जनता को इस बढ़ते हुए रोग से बचाना सम्भव है, पर इसमें काफ़ी समय और धैर्य की आवश्यकता है।

पर किसी यहूदी को उसके सिद्धान्त से हटाना असम्भव है।

मैंने व्याख्यानों और वाद-विवादों-द्वारा जनता को सचेत करने की चेष्टा की, पर फल उलटा हुआ। मार्क्सवाद का जितना ही विरोध किया जाता उतनी ही उनकी ज़िद बढ़ती जाती थी। हारकर मैंने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का और गहरा अनुशीलन आरम्भ किया।

अंत में मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि यदि मार्क्सवाद की सहायता से यहूदी की विजय जनता पर हो जाती है तो संसार से मनुष्यता का लोप हो जायगा। मैंने यहूदी-वाद का अंत करना अपने जीवन का पहला लक्ष्य बना लिया। मुझे ज्ञात हुआ मानो ईश्वर की इच्छा है कि मैं ऐसा करूँ।

---

# तीसरा परिच्छेद

## मेरे वियना के राजनीतिक अनुभव

आमतौर से तीस वर्ष की अवस्था से पहले किसी को राजनीति में भाग न लेना चाहिए। कम से कम इस समय मेरी यही धारणा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तीस वर्ष की अवस्था के बाद आदमी को कुछ सीखने को नहीं रह जाता। सीखता तो वह उम्र भर रहेगा। कहने का तात्पर्य यही है कि इस अवस्था तक विचारों में प्रौढ़ता आ जाती है और इसके बाद जो कुछ वह सीखता है उससे मौलिक विचारों का विस्तार और विकास होता रहता है।

यद्यपि उन दिनों मैं राजनीति का अध्ययन बड़ी लगन के साथ कर रहा था पर अभी तक कोई सक्रिय भाग लेने का अधिकारी मैं अपने को न समझता था। इस प्रकार के राजनीतिक अध्ययन की सुविधा जितनी वियना में थी उतनी उस समय और कहीं न थी।

दीर्घ काल तक वियना में रहकर मुझे अनुभव हो गया था कि यह साम्राज्य भीतर से सड़ चुका है, यद्यपि बाहर से देखने में उसकी राजधानी वियना की शान और तड़क-भड़क का कोई ठिकाना न था। खासकर जर्मनीवालों को इसका बाह्य रूप ही दिखाई पड़ता था। भीतर की अवस्था दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। राजधानी से भी अधिक चिन्ताजनक स्थिति साम्राज्य की थी। आस्ट्रियावासी जर्मनों की संख्या काफ़ी बड़ी थी और प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण काम इन्हीं के हाथ में थे। पर एक करोड़ आदमी पाँच करोड़ प्रजा को नहीं सँभाल सकते, और वह भी ऐसी प्रजा जिनमें भिन्न मतों और भिन्न राज-

नीतिक विचारवालों की संख्या बहुत बड़ी हो! इस राष्ट्र का अन्त निश्चित था और इसे बचाने का एकमात्र उपाय था किसी प्रबल केन्द्रीय सरकार की स्थापना। केन्द्रीकरण के सिद्धान्त-द्वारा ही इसकी रक्षा हो सकती थी। परस्पर-विरोधी स्वार्थों के संघर्ष से आस्ट्रिया की राष्ट्रीय स्थिति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी। मुझे विश्वास हो गया कि आस्ट्रियन साम्राज्य का अन्त निश्चित है।

ऐसे समय में शासन एक-मत से होना परम आवश्यक था। पर आस्ट्रियावाले इँगलैंड की भद्दी नक़ल करने पर तुले हुए थे। ब्रिटिश पार्लमेंट के ढग पर यहाँ भी एक इम्पीरियल कौंसिल थी जिसे 'रीखस्टाग' कहते हैं। हाउस आफ़ कामन्स और हाउस आफ़ लार्ड्स के ढंग पर इसके भी दो विभाग थे—चेम्बर आफ डेपुटीज़ और हाउस आफ़ लार्ड्स। इसका भवन बड़ा भव्य था, जो यूनानी कला के अनुसार बना था। इसमें करोड़ों रुपये की आहुति हुई थी।

ब्रिटिश पार्लमेंट के लिए मेरे मन में प्रशंसा थी और इसी कारण मैंने आस्ट्रियन पार्लमेंट को भी उत्सुकता से देखना आरम्भ किया था। पर थोड़ी ही जाँच के बाद मेरा भ्रम दूर हो गया। मैं इनके कुछ अधिवेशनों मे उपस्थित हुआ और वहाँ की कार्यवाही को ध्यान से देखा। मुझे पता चला कि इनके अधिकांश सदस्य मूर्ख थे और अपने विषय को बिलकुल नहीं समझते थे। बिना समझे-बूझे सभी विषयों पर ये आपस में वाद-विवाद किया करते थे और कोई बात तय नहीं हो पाती थी।

इस प्रकार की कार्यवाही में सबसे पहला दोष जो मुझे जान पड़ा वह यह था कि इसमें किसी निर्णय के लिए किसी एक सदस्य को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। जितनी धाराएँ बनती हैं उनके लिए सभी उत्तरदायी हैं, और कोई नहीं। चाहे कितना ही घातक विधान पार्लमेंट बनाये पर उसकी जवाबदेही किसी एक आदमी पर नहीं हो सकती।

मुझे निश्चय हो गया कि शासन की यह विधि ठीक नहीं है। मान लीजिए कोई राजनीतिज्ञ प्रधान सचिव के पद पर काम कर रहा है। इस विधि के अनुसार उसे पहले अपनी किसी नीति को कार्यरूप में परिणत करने के पहले सब सदस्यों को उसका मर्म समझाना और उनकी सहमति लेना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में उसका सारा समय तो एक मूर्ख-मंडली को अपना विषय समझाने में लग जायगा। और फिर भी अन्त में मान लीजिए किन्हीं कारणों से बहुमत न मिला, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह हाथ पर हाथ रक्खे बैठा रहे या सदस्यों की खुशामद किया करे। क्या इसका अर्थ यह नहीं कि बहुमत से शासन करने का सिद्धान्त नेतृत्व के मूल पर ही कुठाराघात करता है।

दूसरी बात यह है कि जहाँ उत्तरदायित्व का कोई झगड़ा नहीं है वहाँ कोई सदस्य बनने को उत्सुक हो सकता है, चाहे वह राजनीति और शासन-विधान का ककहरा भी न जानता हो।

कहा यह जाता है कि यह शासन-पद्धति बहुमत की राय पर आधारित है। पर तनिक ध्यान से सोचिए बहुमत है क्या वस्तु? अनजान जनता को पत्रों आदि द्वारा जो सूचना दी जाती है वही आगे चलकर 'जनता की राय', 'जनता की माँग' आदि नामों से प्रसिद्ध होती है। यों, बिना सिखाये-पढ़ाये जनता की कोई राय नहीं बनती। कुछ स्वार्थी लोग परदे की आड़ से जो कुछ प्रेस के द्वारा जनता को सिखाते रहते हैं वही जनमत का रूप धारण करता है। और जनमत की इस शिक्षा का काम राष्ट्र के संचालक के हाथ में न रहकर तुच्छ बुद्धिवाले कुछ स्वार्थी आन्दोलकों के हाथ में रहता है। सारांश यह है कि जनमत के निर्माण में प्रेस का हाथ सबसे प्रबल होता है। और उसका नियन्त्रण राष्ट्र के अधीन न होकर जब परस्पर-विरोधी दल के नेताओं के हाथ में चला जाता हो तभी भाँति-भाँति के अनर्थ खड़े होते हैं और शासन के काम में बड़ी असुविधा होती है। इन विभिन्न दलों के तथाकथित नेताओं को सिवा अपना उल्लू सीधा करने के और कोई

काम नहीं होता। राष्ट्र चाहे भाड़ में जाय, पर उनका काम पहले बनना चाहिए।

राष्ट्र के कर्णधार को बिना किसी झंझट और विघ्न-बाधा के अपना काम करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पर उक्त विधि के अनुसार उसकी स्थिति एक भिखारी की होती है। उसका बस यही काम रह जाता है कि चाहे जिस तरह से हो सदस्यों का बहुमत अपने पक्ष मे करता फिरे, एक कैबिनेट जब उसके अनुकूल न रह जाय तब उसे रद कर दे और दूसरी कैबिनेट (मन्त्रि-मंडल) बनावे।

यह सम्भव नही कि पार्लमेंट का प्रत्येक सदस्य सभी विषयों का विशेषज्ञ हो। पर यहाँ तो वैदेशिक नीति, शिक्षा, स्वास्थ्य, युद्ध, उपनिवेश, यातायात, वाणिज्य आदि जितने विषय हैं सभी पर सभी राय देते और लड़ते-झगड़ते दिखाई देते थे। यह मूर्खता की पराकाष्ठा है। इस रीति से शासन का काम कभी ठीक तरह से चलाया नहीं जा सकता। वास्तविक राजनीति-कुशल, असाधारण प्रतिभावान् शताब्दी भर में कोई एक ही जन्म लेता है। जनता को चाहिए कि उसे पहचानकर उसी को अपना कर्णधार बनावे; और उसके काम में अड़ंगा लगाने के लिए जन-सत्तावाद के नाम पर यह सब व्यर्थ का ढकोसला न खड़ा करे।

इस प्रकार के लोक-सत्तात्मक शासन की प्रशंसा केवल यहूदी ही कर सकता है; क्योंकि यहूदी के सिवा और कोई इतना दूषित और बेईमान नहीं हो सकता।

वियना की पार्लमेंट को भली भाँति देख-सुनकर मैं इसी निर्णय पर पहुँचा और फिर मैंने उसमें जाने का नाम तक न लिया।

आईन और क़ानून के नाम पर अत्याचार किस सीमा तक किया जा सकता है, इसका उदाहरण आस्ट्रिया से बढ़कर और कहीं नहीं मिल सकता। जर्मनों की हिमायती पार्टी अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही थी। अब एक ही उपाय रह गया था, और वह यह था कि खुल्लमखुल्ला जर्मनों के स्वत्वों की रक्षा के लिए सर्वत्र प्रबल आन्दोलन

किया जाय। इसका उपाय केवल यह था कि सबसे पहले इस पार्लमेंट-वाली शासन-पद्धति का अन्त करना। जर्मन-स्वत्वों का नेतृत्व करने का अच्छा प्रयास स्कोनेटर ने किया था। इनके प्रतिद्वन्द्वी डा० लुइगर ने आस्ट्रिया को अधःपतन से बचाने का अन्तिम प्रयत्न किया था। पर दो में से एक को भी सफलता न मिल सकी। न प्रेस के प्रचार से कोई काम निकला और न पार्लमेंट में अपने प्रतिनिधि भेजने से ही कोई लाभ हुआ।

मेरी धारणा है कि जनमत तैयार करने में प्रेस उतना कारगर नहीं होता जितना कि बड़ी-बड़ी सभाओं में दिये हुए व्याख्यान। अनजान और शिक्षित जनता प्रत्यक्ष और जोशीले भाषणों से जितनी प्रभावित की जा सकती है उतनी और किसी से नहीं। लेखक कभी लीडर नहीं हो सकता। लीडर होने के लिए अपने मनोभावों के रंग में जनता को रँग देने की शक्ति रखनेवाला वक्ता होना सबसे पहले आवश्यक है। यह काम लिखा-पढ़ी से नहीं होता।

मैंने अपने वियना-वास में इन प्रश्नों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया और अन्त में, इस निर्णय पर पहुँचा कि इन सारी बुराइयों को जड़ से दूर करने का पहला उपाय यह है कि जर्मन नवयुवकों को अपने स्वत्वों का ज्ञान कराया जाय। ये राष्ट्र की आशा हैं। बचपन से ही इनमें स्वदेश-प्रेम और जातीय एकता के भाव कूट-कूट-कर भर देने होंगे।

---

# चौथा परिच्छेद

## म्यूनिच

सन् १९१२ में मैं म्यूनिच पहुँचा। यहाँ अपने जीविकोपार्जन से जो कुछ समय निकाल पाता उसे वैदेशिक राजनीति के अध्ययन में लगाता। पर कुछ ही दिनों में यह देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि यहाँ के लोग हैब्सबर्ग घराने (आस्ट्रिया) की वास्तविकता की बिलकुल जानकारी नहीं रखते। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यहाँ के पेशेवर राजनीतिज्ञों से कहीं अधिक जानकारी मैं स्वयं रखता हूँ। स्थिति यह थी कि आस्ट्रियावासी जर्मन हैब्सबर्ग घराने के शासन में पूरी आस्था रखते थे। वे अब किस मुंह से इसका विरोध करते? यदि जर्मनीवाले कुछ भी विचार से काम लेते तो उनको पहले ही यह विश्वास हो गया होता कि जर्मनी को जब किसी बाहरी शत्रु से लड़ने का अवसर आवेगा तो इटली और आस्ट्रिया कभी उसके सहायक न होंगे। इटली की तो यह अवस्था थी कि यदि वहाँ का एक भी सैनिक जर्मनी की सहायता को भेजा जाता तो सारे राष्ट्र में ज्वालामुखी पहाड़-सा फट पड़ता। वास्तव में वह त्रिगुट-संधि उस समय की एक भयानक राजनीतिक भूल थी। विशेषकर जब कि रूस और आस्ट्रिया में तनातनी दिन-दिन बढ़ती ही जा रही थी, जर्मनों की मित्रतावाली नीति अदूरदर्शितापूर्ण थी।

जर्मनी की जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। प्रतिवर्ष नौ लाख प्राणी बढ़ जाते हैं। इस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनता के लिए रहने के स्थान और उनके भोजन-वस्त्र का प्रश्न बड़ा विकराल रूप धारण

कर रहा है। इन सबको विनाश से बचाने की मानो किसी को चिन्ता ही न थी।

सम्भवतः चार उपाय इस प्रश्न को हल करने के हो सकते थे--

(१) या तो फ्रांसवालों की तरह सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों से काम लिया जाय। पर मेरे विचार से इस प्रकृति-विरुद्ध उपाय से काम लेना बड़ा घातक है। एक तो इसकी सफलता सदा सन्दिग्ध रहती है और इससे इसका प्रयोग करनेवालों को जो कठोर नियम पालन करने पड़ते हैं उनसे वे जीवित ही मृतक की भाँति हो जाते हैं। फिर जो सन्तानें होती भी है वे निर्जीव और निस्तेज रहती हैं। ऐसी कि उन पर कोई राष्ट्र भरोसा नहीं कर सकता, और इनकी स्वास्थ्य-रक्षा का ही प्रश्न बड़ा टेढ़ा हो जाता है। (२) दूसरा उपाय था उपनिवेशों की वृद्धि। यह सूझ तो अच्छी थी पर इसके वास्तविक मर्म को बहुत कम लोग समझ सके थे। यह ठीक है कि देश के भीतर की भूमि को ही अधिक उपजाऊ बनाया जा सकता है, पर इसकी भी एक सीमा है। यह एक परिमित सीमा तक ही इस प्रश्न को हल करने में सहायक हो सकती थी। प्रकृति कोई राजनीतिक सीमा नहीं जानती। इसके प्राणियों का क्रीड़ाक्षेत्र अपरिमित है। (३) अब दो ही उपाय और रह जाते है। या तो राज्य-विस्तार किया जाय, अन्य राज्य अपने में मिलाये जायँ, या (४) हमारे व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र को कुछ इस तरह फैलाया जाय जिससे अधिक से अधिक परिमाण में हमारा माल बाहर खप सके। इससे हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या बेकारी से बचेगी और अन्न-वस्त्र का क्लेश भी उसे न होगा।

इन दोनों उपायों में मैं पहले को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। इन दोनों उपायों पर मैंने पूरा विचार किया पर सब बातें सोच-समझकर दूसरा (वाणिज्य-विस्तार) ही अमल में लाया गया।

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि योरप के अंदर ही राज्य-विस्तार के सिवा जर्मनी के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। अन्य देशों में

उपनिवेश बनाना इँगलैंड ऐसे देश के लिए ठीक हो सकता है पर हमारी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को देखते हुए इँगलैंड की औपनिवेशिक नीति हमारे लिए सम्भव नहीं है।

अब योरप के अन्दर ही जब राज्य-विस्तार के प्रश्न पर विचार किया जाता है तो सबसे पहले यह बात स्पष्ट होती है कि रूस के अहित से ही ऐसा सम्भव है। और इस नीति का अनुसरण करना बिना इँगलैंड को मित्र बनाये असम्भव था।

मेरी राय में ब्रिटेन को मित्र बनाने की चेष्टा में कोई बात उठा नहीं रखनी थी। चाहे जैसे हो उसे अपने पक्ष मे कर लेना था। ऐसा अवसर भी एक बार मिला था, सन् १९०० के लगभग। सन् १९०४ मे जर्मनी की वैदेशिक नीति यदि जापान के ढंग पर चलाई गई होती तो महायुद्ध की नौबत कभी न आती। उस समय यदि कुछ रक्तपात होता भी तो वह महायुद्ध के रक्तपात के दसवें हिस्से के बराबर भी न होता। और इसके फल-स्वरूप जर्मनी आज कितना उन्नत होता!

जो हो, आस्ट्रिया के साथ गँठबन्धन से बढ़कर उस समय कोई दूसरी मूर्खता नही हो सकती थी; क्योंकि युद्ध में जर्मनी का साथ देने के लिए यह राष्ट्र उससे नही मिला रहना चाहता था। उसका असली मतलब यह था कि इससे मैत्री रखते हुए धीरे-धीरे इसमे से (आस्ट्रिया में से) जर्मनों का अस्तित्व ही मिटा दिया जाय।

अब अड़चन यह थी कि ब्रिटेन से मित्रता कर और रूस से लड़ाई मोल लिये बिना योरप में राज्य-विस्तार नहीं किया जा सकता था। दूसरी ओर स्थिति यह थी कि वाणिज्य-विस्तारवाली नीति बिना ब्रिटेन को शत्रु बनाये और रूस को अपने साथ लिये अमल में नहीं लाई जा सकती थी।

पर दोनों ही बातें असम्भव-सी जँचती थीं। रूस को शत्रु बनाकर ब्रिटेन से दोस्ती जोड़ने की बात कोई स्वप्न में भी नहीं सोच सकता

था। ठीक इसी तरह इँगलैंड को शत्रु बनाकर रूस से नाता जोड़ने की बात भी नहीं सोची जा सकती थी। कुछ लोग व्यापार-वाणिज्य के उपायों से सारे संसार पर प्रभुत्व स्थापन करने की गप्पें हाँका करते थे, पर मेरी राय में इससे बढ़कर मूर्खतापूर्ण कोई बात नहीं हो सकती थी। ऐसे लोग इँगलैंड को भूल जाते हैं। यह बिलकुल नादानी की बात है कि अपने विश्व-व्यापार की रक्षा के लिए इँगलैंड अपना खून न बहावेगा। यह कहना नितांत मूर्खतापूर्ण है कि इँगलैंड के पास अपनी कोई जातीय सेना नहीं है। इँगलैंड के पास सदा अपनी आवश्यकता भर को युद्ध का सामान रहा है। पहले तो वह भाड़े के सैनिकों से काम लेता है, पर जब इनसे काम नहीं चलता तब विजय के लिए वह अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा देता है। उसकी लगन और उसका निश्चय अटल होता है। युद्ध के समय नृशंस उपायों से काम लेना भी वह सदा से जानता है।

लोग कहा करते थे कि जहाँ इँगलैंड को सफलता मिली है वहाँ हम भी सफल हो सकते हैं। हम उनसे ज़्यादा ईमानदार हैं। पर मेरी राय में ये सब व्यर्थ की बातें थीं।

जर्मनी के लिए यह बड़ा अच्छा हुआ कि सन् १९१४ का महायुद्ध सीधे आस्ट्रिया के साथ आरम्भ हुआ; क्योंकि स्थिति ऐसी हुई कि वह युद्ध-घोषणा करने पर विवश हो गया। यदि ऐसा न होता तो सहायता के लिए आस्ट्रिया जर्मनी के पास भी न फटकता।

उस युद्ध में जर्मनी तब तक नहीं हारा जब तक कि उसके योद्धाओं को यह विश्वास रहा कि वे एक विशेष सिद्धान्त या आदर्श के लिए लड़ रहे हैं। उनकी हार उसी दिन से सुनिश्चित हो गई जब कि उनको बताया जाने लगा कि तुम अपने अन्न-वस्त्र के लिए लड़ रहे हो।

सारांश यह कि उस समय की स्थिति को देखते हुए मुझे निश्चय हो गया कि केवल व्यापारिक सफलता के बल पर आज तक कोई राष्ट्र महान् नहीं हो सका है। उन दिनों जर्मनी में जो यह धारणा सर्व-

साधारण में प्रचलित हो गई थी कि वाणिज्य-विस्तार के बूते पर ही जर्मनी संसार का सबसे महान् राष्ट्र हो जायगा, यही जर्मनी के राजनीतिक अधःपतन का कारण हुई। जर्मन लोग भूल गये कि शक्ति-संग्रह ही असल चीज़ है; वही शक्ति जिसका सबसे बड़ा उदाहरण जर्मनी में ही मौजूद था। महान् प्रशियन साम्राज्य का विकास वाणिज्य के बल पर हुआ था? असीम वीरोचित कार्यों के फल से ही यह सम्भव हुआ था।

सन् १९१२-१४ तक मैं इस त्रिगुट-संधि पर बराबर गम्भीर विचार करता रहा और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा कि मार्क्सवाद के घातक सिद्धान्तों के फलस्वरूप जर्मनी का यह राजनीतिक दिवाला हुआ है।

मैं एक बार फिर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का गम्भीरतर अध्ययन करने लगा और अपने विचारों को व्यक्त भी करने लगा।

---

# पाँचवाँ परिच्छेद

## महायुद्ध

हठात् एक दिन म्यूनिच में ख़बर आई कि आर्क डच्यूक फ़्रांज़ की किसी सर्व (सर्वियावासी) ने हत्या कर डाली और आस्ट्रिया ने सर्विया को 'अल्टिमेटम' दे दिया। वियना की सरकार ने जिस रूप में वह युद्ध-सूचना दी, उस पर इस समय तर्क करना व्यर्थ है। केवल इतना कहा जा सकता है कि उस परिस्थिति में कोई भी सरकार युद्ध-घोषणा करने को बाध्य थी। युद्ध छिड़ना यों भी अनिवार्य था। पर जर्मनी और आस्ट्रिया का दुर्भाग्य यही था कि वे अन्त समय तक युद्ध को टालते चले आये और आख़िर को बड़े बे-मौक़े उन्हें युद्ध-घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा। रणनीति की दृष्टि से वह समय इनके प्रतिकूल था। जर्मनी की भयानक भूल यह थी कि चाहे जैसे हो शान्ति बनाये रखने की चिन्ता में इसने युद्ध आरम्भ करने के कई स्वर्ण-सुयोग छोड़ दिये। अन्त में ऐसे कुअवसर पर उसे इस युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा कि संसार के सभी प्रबल राष्ट्र इसके विरुद्ध लड़ने को तैयार हो गये।

सन् १९१४ का युद्ध जन-समूह पर ज़बर्दस्ती नहीं लादा गया था। सब लोग ख़ुद ही लड़ने को उतावले हो रहे थे। अपनी ओर से मैं भी इतना निस्सङ्कोच कह सकता हूँ कि जिस दिन युद्ध-घोषणा सुनी, मैंने घुटने टेककर ईश्वर को धन्यवाद दिया। लोग अब समझ गये थे कि यह युद्ध आस्ट्रिया और सर्विया के झगड़े का प्रश्न नहीं था, बल्कि जर्मन राष्ट्र के अस्तित्व का प्रश्न था। देश के ऐसे संकट-काल

में उपस्थित रहने के लिए मैं जगन्नियन्ता के प्रति कृतज्ञ था। उस समय लोगों के लिए इस बात का अनुमान करना असम्भव था कि यह युद्ध इतना लम्बा चलेगा। लोग सोचते थे कि बड़े दिन तक यह लड़ाई खतम हो जायगी और फिर चैन की बंसी बजेगी। सारे जन-समूह को अपनी वर्तमान अवस्था से असन्तोष हो गया था और यह मानी हुई बात थी कि आस्ट्रिया और सर्विया का झगड़ा अब स्थगित नहीं किया जा सकता था। जो हो, आर्क ड्यूक की हत्या से कम से कम इतना तो निश्चय हो गया कि आस्ट्रिया अब लड़ने को बाध्य था। यों यदि किसी कारण जर्मनी को ही सीधे युद्ध-घोषणा करनी पड़ती तो मुझे निश्चय था कि आस्ट्रिया कोई बहाना कर टाल जाता। पर अब ऐसी सम्भावना नहीं रह गई थी।

इस युद्ध के प्रति मेरा अपना विचार स्पष्ट था। हैब्सबर्ग घराने की रक्षा के लिए लड़ मरने का शौक़ मुझे न था, पर अपने देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने का अवसर पाना मैं अपने लिए सौभाग्य की बात समझता था। और अब बात आस्ट्रिया तक ही नहीं रह गई थी। जर्मन-जाति के रहने या न रहने का प्रश्न था। इसकी स्वतन्त्रता खतरे में थी। बिस्मार्क के स्वप्न को पूरा करने का अवसर उपस्थित हुआ था।

तीसरी अगस्त सन् १९१४ को मैंने लड़ाई में नाम लिखाने की दरख्वास्त दी और मैं चुन लिया गया। वह दिन भी आ पहुँचा जब हम लोगों को लाम पर कूच करने का हुक्म हुआ। उस समय मेरे हर्ष और उत्साह का ठिकाना न था। पहले-पहल मुझे राइन नदी के दर्शन हुए। उस समय सूर्योदय की पहली किरणों का प्रतिबिम्ब नदी में पड़ रहा था। एक स्वर से सारी सेना ने राष्ट्रीय गीत गाना आरम्भ किया। अपूर्व समय था। प्रत्येक सैनिक उत्साह और उल्लास से अभिभूत हो रहा था। स्फूर्ति और उत्तेजना से मेरा कलेजा बाँसों उछल रहा था।

दूसरे दिन तड़के हम लोगों को युद्ध-क्षेत्र का पहला वास्तविक अनुभव हुआ। हम लोगों की कम्पनी के बीचोंबीच एक श्रैपनेल गोला फटा। पर उसका धुआँ साफ़ होने के पहले ही 'हुर्रे' के गगन-भेदी स्वर से हम लोगों ने आसमान को गुंजा दिया। थोड़ी देर बाद दूसरी ओर से भी युद्ध-गान का क्षीण स्वर हम लोगों तक पहुँचा। क्रमशः मृत्यु और हाहाकार का ताण्डव भी हम लोगों के सम्मुख आया।

चार दिन खाइयों में रहकर हम लोग वापस लौटे। इन्ही चार दिनों में हम लोगों में एक गहरा परिवर्त्तन हो चुका था। सत्रह वर्ष के लड़के पुराने योद्धा बन चुके थे।

पर ये आरम्भ की बातें थीं। इसी तरह साल पर साल बीतने लगे। निरन्तर मृत्यु के सहवास से अन्त में एक समय यह भी आया कि उत्साह और हौसले के स्थान पर भय और आतंक अड्डा जमाने लगे। हममें से प्रत्येक के मन में आत्मरक्षा और कर्त्तव्य के बीच भीषण संघर्ष आरम्भ हुआ। मैं भी इस संघर्ष से बरी न था। पर अन्त में इच्छाशक्ति ने इस आतंक पर विजय प्राप्त की। मैं अब दृढ़ था और कठोरतम परीक्षा के लिए तैयार था।

इस युद्ध में जर्मनों ने अपूर्व साहस का परिचय दिया। अगले हज़ार वर्ष तक जब-जब इतिहास में साहस और वीरता की चर्चा उठेगी, महायुद्ध के जर्मनों का नाम अवश्य लिया जायगा। अस्तु।

पर कुछ दिनों बाद ही जर्मनी के पत्रों ने एक बड़ा घातक प्रोपेगैंडा शुरू किया। हम लोग इस बीच कई युद्ध जीत चुके थे, पर पत्रों में यह निकला कि कोई मार्के की लड़ाई अभी तक नहीं जीती गई, ज़्यादा दिनों तक इस लड़ाई को जारी रखने से जर्मनी की ही हानि है, समझौते के मार्ग निकालना ही श्रेष्ठ मार्ग है, इत्यादि।

इन बातों का प्रभाव कितना घातक सिद्ध हुआ, यह कहना असम्भव है। मेरी राय में जर्मनों की पराजय का एकमात्र कारण पत्रों में उठाया हुआ इस प्रकार का आन्दोलन था। जिन लोगों ने यह आन्दो-

लन उठाया वे जर्मनी के सबसे बड़े शत्रु थे; क्योंकि एक बार जब सैनिकों का उत्साह गिर जाता है तब फिर किसी तरह कोई युद्ध नही जीता जा सकता। इसकी जड़ में मार्क्सवाद का हाथ था। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति ही मानव-जाति के नाश के लिए हुई थी। १९१४ में सबको यह विश्वास था कि प्रत्येक जर्मन श्रमिक मार्क्स के सिद्धान्तों का अनुयायी है। पर युद्ध आरम्भ होते ही जातीयता की एक अपूर्व लहर उठी थी। स्वदेश-प्रेम और जाति-प्रेम ने इस यहूदी-प्लेग को कुछ समय के लिए दबा दिया था और यह एक स्वर्ण-सुयोग था कि अगर जोर लगाया जाता तो सदा के लिए इस आस्तीन के साँप का अन्त हो जाता। पर हमारे सम्भ्रान्त कैसर ने इनको गले लगाया और फिर से सँभलने का मौक़ा दिया।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि पशुबल से किसी जमी हुई विचारधारा का अन्त नहीं किया जा सकता। यह तो आरम्भ मे ही सम्भव होता है। इसके विनाश का अब एक ही उपाय था। इसके टक्कर की किसी दूसरी विचारधारा का प्रचार किया जाता या इसके बदले मे कोई दूसरी विचारधारा फैलाई जाती जो श्रमिकवर्ग को ज्यादा दिल-चस्प जान पड़ती तब सदा के लिए इसका अन्त हो जाता। अभी तक जर्मनी मार्क्सवाद के मुक़ाबिले की वस्तु नही उत्पन्न कर सका था और इसी से देश-प्रेम की लहर मे एक बार दबने पर भी फिर सँभलकर और अब की बहुत सतर्क होकर इसने अपना विष फैलाना शुरू किया, और फल यह हुआ कि जर्मनी को यह ले ही डूबा।

---

# छठा परिच्छेद

## लड़ाई का प्रचार

किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रचार से बढ़कर कोई उपाय नहीं। युद्ध में तो शायद इसका स्थान सर्वोपरि है। हमारे शत्रु प्रचार का महत्त्व हमसे ज़्यादा समझते थे। सोशल डेमोक्रेसीवाले मार्क्सवादी भी इसी के बल पर हमारे सारे जातीय जीवन को निकम्मा बना रहे थे।

हमारे शत्रु इस विद्या में हमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। उनका प्रोपेगेंडा इतना ठिकाने का होता था कि वे अपना मतलब हल कर ही लेते थे। मैं मुक्तकंठ से शत्रु के प्रोपेगेंडा की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। हमारे यहाँ इसका कोई जवाब न था।

अँगरेज़ी पत्रों में जर्मन सैनिक 'बर्बर', 'हून', 'राक्षस' आदि कहे जाते थे, तथा पोस्टरों में सर्वत्र इसी कल्पना के आधार पर उनके चित्र लगाये जाते थे। फल यह होता था कि अँगरेज़ सैनिक इनके विरुद्ध मर मिटने में अपना गौरव समझते थे। इधर हमारे यहाँ के पत्रों, विज्ञापनों आदि में अँगरेज़ी सिपाहियों का मखौल उड़ाया जाता था, मानो वे गाजर-मूली हैं। यह एक भयानक भूल थी। जर्मनों के युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों, उनके युद्ध-कौशल, उनकी युद्ध-नीति आदि सभी बातों को शत्रु के पत्रों में, 'पाशविक', 'नृशंसतम', 'बर्बरतम' आदि कहा जाता था। करोड़ों रुपये इस प्रचार में खर्च किये जाते थे। इसका फल उन्हें मुँहमाँगा मिला।

पर हमारे यहाँ मानो कोई प्रचार के महत्त्व को ही नहीं समझता था। प्रोपेगेंडा शिक्षितों के लिए नहीं होता बल्कि महान् जन-समुदाय के

लिए होता है जिनमें अधिकांश निरक्षर या अल्पशिक्षित होते हैं। वैज्ञानिक ढंग से कही हुई बातें ये समझते ही नहीं, और देर में समझते भी हैं तो तुरन्त भूल जाते हैं। इनके लिए बँधी हुई बातें या 'स्लोगन' होने चाहिए जिनमें सूत्र-रूप से सब बातों का निचोड़ रक्खा हुआ हो और वे ही बातें बारम्बार दुहराई जाती हैं। प्रोपेगैंडा की सबसे बड़ी बात है, उसमें बराबर लगे रहना और फिर-फिर वे ही कुछ थोड़े से चुटकुले अनवरत रूप से दुहराते जाना। इसमें खर्च बहुत पड़ता है पर फल भी मिलता है। हमारे शत्रु और अमेरिकावाले इन बातों को खूब समझते हैं, और इसी से उन्हें मनमाना फल मिला। इँगलैंड में प्रोपेगैंडा का स्थान (युद्ध के साधनों में) सबसे ऊँचा माना गया था पर हमारे यहाँ यह काम कुछ बेकार राजनीतिज्ञों या निठल्ले लोगों का काम समझा जाता था। इसका फल भी नहीं के बराबर ही हुआ।

———

# सातवाँ परिच्छेद

## क्रान्ति

सन् १९१५ में शत्रुओं ने हमारे सिपाहियों में प्रचार करना आरम्भ किया। इसमें उसको यहाँ तक सफलता मिली कि हमारे सिपाहियों की विचार-धारा वैसी ही हो गई जैसी वे चाहते थे। फिर सन् १९१८ की गर्मियों में जर्मनी के पत्रों ने एक ऐसी नीति अपनाई जो कि बेमौक़े और व्यर्थ थी। उसे देखकर एक ही प्रश्न बराबर मेरे मन में घूमा करता था—'क्या देश में कोई ऐसा नहीं है जो इस घातक प्रोपेगैंडा का अन्त करे।' घर के भेदिये सबसे भयावह होते हैं और जहाँ-जहाँ हार होती है, इन्हीं के कारण होती है।

मैं प्रायः यह भी सोचता था कि यदि भगवान् ने मुझे लाम पर न भेजकर प्रोपेगैंडा का भार मुझे सौंपा होता तो युद्ध का परिणाम आज और ही कुछ होता। मुझे न जाने क्यों ऐसा विश्वास-सा हो रहा था कि दैव मुझे प्रोपेगैंडा के लिए घर न रहने देकर और लाम पर भेजकर जर्मनी की पराजय का मार्ग ही प्रशस्त कर रहा है।

सन् १९१५ में शत्रु ने हमारी खाइयों में हवाई जहाज़ों से हज़ारों-लाखों की संख्या में परचे गिरवाये। उनमें यही लिखा रहता था कि 'हमारी तुमसे कोई लड़ाई नहीं, कैसर और उसका युद्ध अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए तुम्हारी बलि दे रहा है। कैसर की युद्धनीति संसार की शान्ति को नष्ट करनेवाली है और यह तुम्हारी नादानी है कि तुम उसके हाथों के कठपुतले होकर विश्व की शान्ति भंग करने में सहायक

हो रहे हो। युद्ध समाप्त होने के बाद जनसत्तात्मक शान्ति-संघ स्थापित करते समय जर्मन हमारे सहयोगी समझे जायँगे', इत्यादि।

पहले तो हम लोगों ने इन परचों को पढ़ा और उन्हें हँसकर उड़ा दिया। हम पर इनका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। पर कुछ दिन बाद शत्रु के प्रचार ने एक दूसरा रूप धारण किया। बवेरिया और प्रशिया की पलटनों में फूट डालने की चेष्टा की जाने लगी। शत्रु ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि इस युद्ध का सारा उत्तरदायित्व प्रशिया पर है। बवेरिया से हमारा कोई झगड़ा नहीं है। हमारा उद्देश्य है प्रशियन युद्धवाद का अन्त करना। यह विषैला प्रचार अनवरत रूप से चलने लगा और इसका फल भी हुआ। प्रशिया और बवेरिया की सेनाओं में मतभेद हो गया। इस घातक प्रचार को रोकने के लिए हमारी ओर से कोई प्रयत्न नहीं किया गया। फल यह हुआ कि हमारी सब सेनाओं में क्रमशः यह विष व्याप्त हो गया। सैनिकों में घोर असन्तोष फैलने लगा। इस कार्य में उन पत्रों ने भी सहायता दी जो जर्मन स्त्रियों ने अपने पतियों के नाम भेजे थे। खाने-पीने, कपड़े-लत्ते और चिकित्सा आदि के प्रबन्ध से क्षुब्ध जर्मन सैनिक खुलेआम विरोध के भाव व्यक्त करने लगे। किसी हद तक उनका विरोध न्यायसंगत भी था।

१९१६ के अक्टूबर में घायल अवस्था मे मै बर्लिन के अस्पताल मे पहुँचाया गया। यहाँ मैने और ही तमाशा देखा। लौटे हुए सिपाही अपनी कायरता की डीग हाँकने में बड़ी बहादुरी समझते थे। वीरता-पूर्वक लड़ते हुए जान देनेवाला सिपाही मूर्ख समझा जाता था। यह कायापलट देखकर मेरे दुःख और क्रोध का ठिकाना न रहा। राजधानी में भूख और अभाव का अखण्ड साम्राज्य हो रहा था। आर्थिक संस्थायें और व्यापार की कुंजियाँ यहूदियों के हाथ में चली गई थी। सारा आर्थिक नियंत्रण यहूदी ही कर रहे थे। यही नही, यूनिवर्सिटियों में भी उच्चाधिकारी यहूदी ही थे। क्लर्क तो

शत-प्रतिशत यहूदी थे। ये सभी प्रशिया और बवेरिया में फूट डालने में सहायक हो रहे थे। किसी को यह समझ न थी कि प्रशिया के पतन के साथ ही बवेरिया का विनाश भी सुनिश्चित है। इधर मौक़ा देखकर यहूदियों ने एक ही धक्के में प्रशिया और बवेरिया दोनों का अन्त कर दिया।

इसी बीच--१९१७ के अन्त में--ऐसा जान पड़ा कि स्थिति कुछ सुधर गई है। रूस के पतन से पश्चिमी लाम पर की फ़ौजों का हौसला दूना हो गया। फिर उसी साल (१९१७ की शरद् ऋतु में) इटली के पतन का भी आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। अब जर्मनी अपनी पूरी शक्ति पश्चिमी लाम पर एकत्र करने के लिए स्वतन्त्र था। अन्तिम आक्रमण की तैयारियाँ होने लगीं। सबको विश्वास हो चला था कि यह हमला आख़िरी होगा और शत्रु इसे कभी सँभाल न सकेगा। शत्रु भय से काँप रहा था। उसके प्रचार का काम अब बन्द था। शत्रु के सैनिकों के हौसले टूट चुके थे।

पर इसी बीच जर्मनी में एक बहुत बड़ा विश्वासघात हुआ। गोला-बारूद के कारख़ानों में हड़ताल हो गई। वह भी उस समय जब कि अन्तिम विनाश सुनिश्चित हो चला था। जर्मनी के भीतरी शत्रुओं ने ऐन मौक़े पर दग़ा की। आख़िरी हमले का हुक्म जारी हो रहा था कि सब कारख़ानों में हड़ताल की ख़बरें आईं।

सारा संसार अचम्भे में आ गया। इस अवसर से पूरा लाभ उठाया शत्रुओं ने। 'जर्मनी क्रान्ति के द्वार पर', 'मित्रों की विजय सुनिश्चित' इस तरह के अगणित पर्चे बाँटे गये। इधर घर में यहूदी षड्यंत्र-द्वारा यह प्रचार किया जा रहा था कि इस लड़ाई से पूँजीवाद का लाभ है और श्रमिक-समुदाय व्यर्थ ही इन पूँजीपतियों की चक्की में पिस रहा है।

यदि मेरा बस चलता तो मैं इन घर के शत्रुओं को फाँसी पर चढ़वा देता। ये अपना उल्लू सीधा करने के लिए जर्मनी को पराजय के गढ़े में ढकेल रहे थे।

पर अब क्या था? पाँसा पलट चुका था। एक हमले में—जिसमें शत्रुओं ने पीली गैस का प्रयोग किया था—घायल होकर मैं फिर अस्पताल भेजा गया। मेरी आँखें खराब हो गई थीं और सम्भव था कि इस गैस के प्रभाव से मैं सदा के लिए अन्धा हो जाता। मेरी आँखों में रात-दिन असह्य पीड़ा होती रहती थी और वे अंगारों की तरह जल रही थीं।

मैं कुछ-कुछ अच्छा हो चला था कि अचानक एक भयानक ख़बर उड़ी—'जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया।' मुझे विश्वास न हुआ। पर उसी दिन स्थानीय पादरी ने सभा करके हम सबों को वह हृदय-विदारक समाचार सुनाया। उन्होंने कहा कि "अब इस युद्ध को जारी रखना व्यर्थ है, क्योंकि हम लोग हार गये है और जर्मनी अब 'रिपब्लिक' हो गया है।" इसके आगे मै न सुन सका। सभी रो रहे थे। मैं एक बार अपनी स्वर्गीया माता की समाधि पर रोया था। उसके बाद यह मेरे रोने का दूसरा अवसर था। मै वहाँ से भागकर अपने बिस्तरे पर पड़ रहा और तकियों मे मुँह छिपाकर फूट-फूटकर रोने लगा। ऐसा जान पड़ता था मानो मेरा कलेजा टूक-टूक हो जायगा।

क्या इसी दिन के लिए जर्मनी ने अपने लाखों होनहारों की बलि चढ़ाई थी? क्या इसी दिन के लिए जर्मनी की असंख्य माताओं ने अपने प्राणाधार बच्चों को लाम पर भेजा था जो फिर कभी नही लौटे? इन वीरों की स्मृति में तो शिलाओं पर यह लिखकर लगाया जाना चाहिए—"यात्री, जब तुम जर्मनी आओ तो हमारी मातृभूमि को यह संदेशा पहुँचाना कि उसके प्रति सच्चाई और वफ़ादारी से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए हम यहाँ पर मारे गये हैं।" इसके बाद दिन बिताना असम्भव हो गया। मैं एक निर्णय पर पहुँचा। यहूदियों के साथ अब निर्वाह नहीं हो सकता। मैंने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया।

———

# आठवाँ परिच्छेद

## मेरे राजनीतिक कार्यों का आरम्भ

नवम्बर के अन्त में मैं म्यूनिच पहुँचा। स्थिति बिगड़ती ही जा रही थी। सारा शासन-तन्त्र कुछ कौंसिलों की तानाशाही के हाथ में हो रहा था। दूसरे शब्दों में यहूदियों के हाथ में शासन की बागडोर आती जा रही थी। इस क्रान्ति का उद्देश्य ही यही था, पर सौभाग्य से यह सफल न हो सकी।

उस समय देश में अगणित पार्टियाँ बन-बिगड़ रही थीं। पर कुछ विशेष कारणों से, जिन्हें मैं आगे चलकर बताऊँगा, मैं किसी पार्टी में सम्मिलित होना नहीं चाहता था।

मैं मन में नित्य नये मनसूबे बाँधता था, पर किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता था। इधर रूस में होनेवाली सोवियट क्रान्ति म्यूनिच में भी पहुँच चुकी थी। मेरे शुरू-शुरू के कामों से केन्द्रीय कौंसिल को मेरे ऊपर कुछ संदेह हुआ। २७ एप्रिल सन् १९१९ को मैं पकड़ा जानेवाला था। पर जो तीन आदमी मुझे गिरफ़्तार करने आये थे वे मेरी तनी हुई पिस्तौल देखकर लौट गये।

कुछ हफ़्तों के बाद मुझे फ़ौजी व्याख्यान सुनने की आज्ञा हुई। पर मैं अपने विचारों का आदान-प्रदान अपने साथियों से बराबर किया करता था। धीरे-धीरे हम लोगों की यह धारणा बनती जा रही थी कि जिन लोगों ने ऐन वक़्त पर वह क्रान्ति कराई थी, वे जर्मनी के मित्र नहीं थे। वे अपने को चाहे सोशल डेमोक्रेट कहें, चाहे और कुछ, पर उनसे जर्मनी का उद्धार नहीं हो सकता। अपनी मित्र-मंडली

में मैं एक नई पार्टी बनाने के सम्बन्ध में विचार किया करता था। इस बात पर हम सब सहमत थे कि एक नया आन्दोलन ही देश को पतन से बचा सकता है और इस आन्दोलन का नाम ऐसा रखना चाहिए कि वह जनता पर प्रभाव डाल सके। हम लोगों ने इसका नाम सामाजिक-क्रान्तिदल (Social Revolutionary party) रक्खा।

राजनीति का गम्भीर अध्ययन करते-करते एक बात और मेरी समझ में आई। वह यह कि सबसे विकट लड़ाई हमको शत्रु से नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी से लड़नी होगी। फ़िडर नाम के एक विद्वान् चिन्तक के व्याख्यानों से यह बात जनता पर क्रमशः स्पष्ट होने लगी। इस अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के सिद्धान्त के आदि आचार्य यहूदी-वाले मार्क्स के सिद्धान्तों के रहस्य को फिर से भलीभाँति समझने का मैंने निश्चय किया। मै उनके गम्भीर अध्ययन में लग गया। इतने दिन बाद अब पूँजी का मर्म मेरी समझ मे आया और मै इसकी सम्भावनाओं का अनुमान करके काँप उठा। ये सोशल डेमोक्रेट जातीय बचन का अन्तर्राष्ट्रीय स्टाक एक्सचेंज के नाम पर क्यों विरोध करते थे, इसका मतलब समझ मे आया। संक्षेप मे, यदि इनकी चलती तो सारा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नियन्त्रण यहूदियों के हाथ मे चला जाता।

कुछ दिन बाद मै सैनिकों का राजनीतिक शिक्षक (Instruction officer) बना दिया गया। मैं बड़ी तत्परता से अपने विचार अपने साथियों को समझाने लगा। मुझे सन्तोष था कि उनमे से अधिकांश मेरे जैसी राय रखते थे।

---

# नवाँ परिच्छेद

## 'जर्मन-लेबरपार्टी' (मज़दूरदल)

एक दिन अपने अफ़सरों से मुझे यह आज्ञा मिली कि मैं 'जर्मन-लेबर-पार्टी' नाम की संस्था के बारे में कुछ छानबीन करूँ। मुझसे कहा गया कि मैं इसकी बैठकों में सम्मिलित होकर इसकी पूरी कार्यवाही की जानकारी प्राप्त करूँ।

क्रांति के बाद से सैनिकों को आज्ञा मिली थी कि वे राजनीतिक सभाओं में उपस्थित रहा करें और अपना ज्ञान बढ़ायें। वास्तव में इन बेचारों की राजनीतिक जानकारी नहीं के बराबर थी। साथ ही इनके घोर शत्रु मार्क्सवादी इस चेष्टा में थे कि इनके हृदय से जातीयता के भावों को समूल नष्ट कर दिया जाय।

अस्तु, मैं उक्त लेबरपार्टी की एक बैठक में सम्मिलित हुआ। उस दिन वहाँ गाटफ़्रिड फ़िडर का भाषण हो रहा था। कुल उपस्थिति थी बीस या पच्चीस; जिनमें निम्नवर्ग के लोग ही अधिक थे। फ़िडर का भाषण प्रायः दो घंटे तक चलता रहा। उनके बाद एक प्रोफ़ेसर साहब खड़े हुए। उन्होंने फ़िडर के भाषण पर कुछ शंकायें कीं। फ़िडर ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ उन शंकाओं का समाधान किया। इसके बाद फिर वे प्रोफ़ेसर बोलने लगे। वे इस बात पर बड़ा ज़ोर दे रहे थे कि बवेरिया प्रान्त को प्रशिया से अलग कर देने पर ही वास्तविक शान्ति हो सकती है और ऐसा होने पर जर्मन-आस्ट्रिया निश्चय ही बवेरिया का साथ देगा; इत्यादि। अब मुझसे न रहा गया। मैंने सभापति की अनुमति लेकर इस प्रश्न पर अपने विचारों को प्रकट करना

आरंभ किया। परिणाम यह हुआ कि प्रोफ़ेसर साहब दुतकारे हुए कुत्ते की तरह दुम दबाकर वहाँ से खिसक गये। बाहर आने पर श्रमिक-वर्ग के एक युवक ने बड़ी उत्सुकता के साथ मुझसे परिचय किया। साथ ही उसने अपनी स्त्री की एक पुस्तक भी मुझे भेंट की और मुझसे आग्रह किया कि मैं उसे ध्यान-पूर्वक साद्यो-पान्त पढ़ जाऊँ।

उस पुस्तक का नाम था, "मेरी राजनीतिक जागृति।" इसमें उसने अपने राजनीतिक जीवन की कहानी लिखी थी जो मेरी अपनी कहानी से बहुत मिलती-जुलती थी। इसके एक सप्ताह बाद ही मेरे पास एक पत्र आया। इसमें लिखा था कि मैं 'जर्मन-लेबरपार्टी' का सदस्य चुन लिया गया हूँ। साथ ही अगले बुधवार के दिन इसकी अगली बैठक में सम्मिलित होने के लिए मुझे साग्रह आमंत्रित भी किया गया था।

मुझे पहले तो कुछ हँसी आई। उन दिनों वर्तमान अवस्था से सभी को घोर असंतोष हो रहा था और जिसे देखिए वही एक नई पार्टी बनाने की धुन में था। मैं इस पार्टी के उद्देश्यों से अनजान था। सदस्य बनाने के पहले इन्होंने मेरी अनुमति प्राप्त कर लेना भी आवश्यक न समझा!

जो हो, केवल कुतूहल-वश मैं उस दिन उनकी मीटिंग में पहुँचा। एक मामूली-सी सराय में सिर्फ चार सज्जनों की उपस्थिति में उक्त "कांग्रेस" की कार्यवाही आरंभ हुई। इनमें वह युवक भी था जिसने मुझे पुस्तक दी थी। पहले तो पुरानी रिपोर्टें आदि पढ़ी गईं। फिर कोषाध्यक्ष ने अपना वक्तव्य दिया। इसके कोष में कुल सात शिलिंग छः पेंस (लगभग पाँच रुपये) थे। फिर आई हुई चिट्ठियाँ और उनके उत्तर पढ़े गये जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए। मैं चुपचाप यह सब देखता समझता रहा। इनका न कोई प्रोग्राम था, न कोई सुनिश्चित नीति। सभी बातें एकदम बेतुकी थीं।

पर यह हँसने या मखौल उड़ाने का नहीं, खून के आँसू रोने का अवसर था। देश की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी और सर्व-साधारण को वर्तमान स्थिति से इतना असन्तोष हो गया था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पका रहा था। जितने आदमी थे, उतने ही क्लब और सोसाइटियाँ बन रही थीं।

मैं घर लौटा और सोचने लगा कि उस संस्था का सदस्य बनूँ या न बनूँ। मैं किसी बड़ी संस्था का सदस्य नहीं होना चाहता था। इसका कारण मैं फिर बताऊँगा।

उन दिनों मुझे कोई जानता न था। मैं उन अस्सी लाख जर्मनों में से एक था जो दैवयोग से जीता बच गया था। दूसरे मैंने किसी स्कूल या कालेज में उच्च शिक्षा भी नहीं पाई थी। और दुनिया सबसे पहले यही देखती है। लोग यह नहीं देखते कि कौन युवक क्या करने की क्षमता रखता है; बल्कि वे यह देखते हैं कि कौन कितना पढ़ा है। इन तथाकथित शिक्षितों से मुझे बड़ी चिढ़ हो गई थी।

मैंने यह भी देखा कि बड़ी संस्थाओं में कोई नई बात, कोई नया कार्यक्रम या कोई नई नीति बैठाने की गुंजाइश नहीं होती। ये बातें नई और छोटी संस्थाओं में अधिक सुगमतापूर्वक की जा सकती हैं।

बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद मैंने उक्त संस्था की सदस्यता स्वीकार कर ली। मेरा नम्बर सातवाँ था।

यह मेरे जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।

---

# दसवाँ परिच्छेद

## दूसरी रीख़ का पतन क्यों हुआ ?

किसी वस्तु का पतन किस सीमा तक हुआ है यह समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह किस उँचाई से गिरी है। उन विपत्ति और दरिद्रता के दिनों में द्वितीय जर्मनराष्ट्र (Second Reich) के पिछले गौरव का अनुमान करना भी असम्भव था। इसका स्थापना युद्धस्थल में प्रकट की हुई अपूर्व वीरता के आधार पर हुई थी न कि पार्लियामेंट के व्याख्यानवीरों की बुद्धि के बल पर। पर इस दुर्गति के समय जर्मनी के अधिकांश लोगों की समझ में भी नहीं आ रहा था कि क्या से क्या हो गया। बहुत थोड़े ऐसे लोग थे जो ठीक-ठीक जर्मनी की असाधारण हानि का अटकल लगा सकते थे। लोग तो ऐसे थे जिनकी करतूत से ही जर्मनी इस दयनीय अवस्था को प्राप्त हुआ था। ऐसे लोग अपने प्रयत्नों की सफलता पर मन ही मन सन्तुष्ट हो रहे थे।

बहुत-से लोग इस पतन के लक्षणों को ही इसका कारण कहते थे। यह बड़ी भारी भूल थी। कुछ लोग जर्मनी की सैनिक हार और युद्धवाद को ही इसका कारण बताते थे। ये लोग युद्ध और उसके समूचे परिणाम का उत्तरदायित्व भी जर्मनी पर ही रख रहे थे। पर वास्तव में जर्मनी की जड़ भीतर से खोदनेवाले ये ही घर के शत्रु थे। ये मार्क्सवादी यहूदी थे जो जर्मनी को पतन के भयानक गर्त में गिराने में सहायक हुए।

हम यह मानते हैं कि हमारी पराजय जर्मनी के भविष्य के लिए एक नितान्त दुःखद घटना हुई। पर वह पराजय स्वयं कोई कारण

न थी। जर्मनी के पतन के वास्तविक कारण कुछ और ही थे। जिन कारणों से जर्मनी हारा, उन्हीं कारणों से इसका पतन भी हुआ। यदि ये कारण पहले से उपस्थित न होते तो जर्मनी कभी न हारता। जर्मनों का सैन्य-संचालन संसार को चकित कर रहा था। जर्मनी इन घर के भेदियों के रहते हुए भी लड़ाई जीत ही चुका था, पर यह एक सुयोग-मात्र था, जिससे शत्रु की विजय हो सकी। सारे संसार के युद्ध-सामग्री प्रस्तुत करनेवाले कारखाने मित्र-शक्तियों के लिए काम कर रहे थे। उनकी सम्मिलित सैनिक संख्या आरम्भ में ही हमसे अधिक थी, और फिर बढ़ती ही चली गई। उनका प्रोपेगैंडा कहीं अधिक कारगर था। फिर भी हम जीत चुके थे, इन नीच और झूठे वैरियों ने अगर पीछे से पीठ में छुरा न भोंका होता। देश भर में आम हड़ताल! ठीक ऐन मौक़े पर जब आख़िरी हमले के हुक्म बँट रहे थे? इन्हीं बदमाशों ने घातक प्रचार करके मज़दूरों और समूचे मध्यवर्ग के दिमाग़ में वह विष भर दिया था। हम शत्रु के पराक्रम या रण-कौशल से नहीं हारे। हम अपने देशवासियों के षड्यंत्रों से हारे। और इस षड्यंत्र के मूल में मार्क्सवाद का घातक सिद्धान्त और उसके विष का सर्वसाधारण में प्रचार करनेवाले यहूदी थ। संसार के सर्व-श्रेष्ठ चिन्तकों में से एक ने यहूदी के बारे में जो अपनी राय दी है वह सोलह आने सच है। उसके (स्कोपेनहूर के) अनुसार 'यहूदी झूठों का बादशाह' (The Great Master of Lies) है।

हम तो यही कहेंगे कि यह भयानक विपत्ति जर्मनी के लिए वरदान सिद्ध हुई। क्योंकि यदि यह विष कुछ दिन तक और बढ़ता जाता तो क्रमशः सारी जाति का ही नाश हो जाता।

जर्मनी की जन-संख्या आश्चर्यजनक गति से बढ़ रही थी। सर्व-साधारण की जीविका के प्रश्न ने भयानक रूप धारण कर लिया था। अमीर-ग़रीब का भेदभाव दिनों दिन बढ़ता जा रहा था। पर अधि-कारियों ने इसे हल करने का जो मार्ग चलाया वह भ्रान्त था। तल-

वार और शौर्य के स्थान पर आर्थिक और व्यापारिक नीति ग्रहण की गई। आर्थिक पूँजी के प्रतिनिधियों को ऊँचा पद देकर सम्राट् कैसर ने एक भयानक भूल की। बिस्मार्क तक इस मामले में चूक गये। मार्क्सवादियों की चाल यह थी कि जर्मनी के व्यापार-वाणिज्य पर से राष्ट्र का नियन्त्रण हटाकर उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे दिया जाय और इस प्रकार 'फ्री ट्रेड' या स्वतन्त्र व्यापार के नाम पर सारे उद्योग-धन्धों को अपने हाथ में कर लिया जाय। जर्मनी के बड़े व्यवसायों के विरुद्ध 'सोशल डेमोक्रेसी' (सामाजिक जनसत्तावाद) के नाम पर जब इन्होंने लड़ाई छेड़ी तभी इनके गूढ़ रहस्य का पता चल गया। फिर जब राजकीय रेलवे कम्पनियों के विरुद्ध भी ये खड्गहस्त हुए तब इनकी घातक नीति और भी स्पष्ट हो गई।

महायुद्ध के पहले जर्मनी में शिक्षा का प्रबंध बड़ा असंतोषजनक था। कोरी किताबी पढ़ाई से कोई जाति उन्नति नहीं हो सकती। वास्तविक योग्यता का विकास, चरित्र-गठन, आत्मनिर्भरता, उत्तरदायित्व का अनुभव, स्वास्थ्य की उन्नति, देश-प्रेम, जाति-प्रेम आदि की भावना, यही वास्तविक शिक्षा है। जर्मनी का विद्यार्थी किताबी कीड़ा होता था। वह जानता तो बहुत कुछ था, पर उसका चरित्र दुर्बल था। इन लोगों को जब कभी बाहर जाने का अवसर होता था तब ये मानों अपनी जातीय और सांस्कृतिक विशेषताओं को भूल जाते थे। उनको इसकी शिक्षा ही न मिली थी।

बात यह थी कि इनके शिक्षक अधिकतर मार्क्सवादी थे। अपनी सत्यानाशिनी नीति को सफल बनाने के लिए किस प्रकार की शिक्षा का प्रचार करना चाहिए, यह इनको भली भाँति ज्ञात था। किसी देश की उन्नति उसके होनहार नवयुवकों पर ही निर्भर करती है और इन्हीं की मनोवृत्ति ये अपनी उद्देश्य-सिद्धि के अनुकूल बना रहे थे।

यह तो हुई स्कूलों-कालेजों की शिक्षा। दूसरी शिक्षा वह है जो प्रेस (पत्र, पत्रिका, विज्ञापन तथा प्रचार के निमित्त बाँटी जानेवाली

छोटी पुस्तकों) के द्वारा जन-समुदाय को दी जाती है। प्रेस को यहूदियों ने किसी प्रकार अपने अनुकूल कर लिया था। इसके द्वारा अपढ़ या अल्पशिक्षित जन-समूह में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रचार किया जा रहा था। पश्चिमी देशों के जनसत्तात्मक शासन की भूरि-भूरि प्रशंसा की जा रही थी। सारे जन-समूह को वर्तमान अवस्था से असन्तोष का पाठ पढ़ाया जा रहा था। इस यहूदी प्रेस को अपने इस घातक उद्देश्य की सिद्धि में जो असाधारण सफलता मिली उसके दो मुख्य कारण हमारी समझ में आते हैं। एक तो यह कि इसके संचालक परले सिरे के धूर्त और बेईमान थे। दूसरे राष्ट्र की ओर से इसका कोई प्रबल विरोध भी नहीं हो रहा था। अधिकांश राजकीय पदाधिकारी इतने मूर्ख थे कि इन धूर्तों की चालों को समझ भी नही पाते थे। कहने को तो ये पत्र मध्यवित्त लोगों के हितार्थ प्रकाशित किये जा रहे थे, पर इनका वास्तविक लक्ष्य था विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से लड़ाकर यहूदीवाद का उल्लू सीधा करना। यह सीधी-सी बात किसी की समझ में नही आ रही थी। राष्ट्र की ओर से प्रथम तो कोई उपाय इस व्याधि को रोकने का किया नहीं गया, और जो कुछ किया भी गया वह इतने कच्चे दिल से कि उसका फल उलटा हुआ। कभी-कभी किसी पत्र को 'चेतावनी' दे दी जाती थी। इस भयानक भूल का प्रायश्चित्त जर्मनी ने अपने हृदय के रक्त से किया।

प्रेस पर राष्ट्र का एकाधिपत्य होना परमावश्यक थ, । अपढ़ जनता के लिए क्या हितकर है और क्या नहीं इसको राष्ट्र ही समझ सकता है, देश की परस्पर-विरोधी पार्टियाँ नही। फिर जनता छपी हुई बातों को वेदवाक्य मानकर पढ़ती है। उसमें इतनी समझ नहीं होती कि वह नीर-क्षीर-विवेक करके उन्हें पढ़े। यहूदी प्रेस ने जनसत्ता की रक्षा की बोली बोलकर इनको अपने हाथ का हथकंडा बना लिया था और राष्ट्र ने चूँ तक न की। यदि प्रेस का नियंत्रण बुद्धिमानी के साथ किया गया होता तो ऐन मौक़े पर, जब कि हमारी

विजय सुनिश्चित थी, जर्मनी भर में आम हड़ताल होने की नौबत न आती। पर युद्ध के पहले के राष्ट्रीय कर्णधार अपनी मूर्खता-वश इन बातों को न समझ सके थे।

इनकी अदूरदर्शिता का एक उदाहरण और देता हूँ। सर्वसाधारण के स्वास्थ्य के संबंध में राष्ट्र बहुत असावधान था। बड़े शहरों में उपदंश का प्रकोप बढ़ता जा रहा था। तपेदिक़ का नंबर भी लगभग इसके बराबर का ही था। पर विशेषकर उपदंश के सम्बन्ध में राष्ट्र ने कुछ ऐसी उदासीनता दिखलाई कि आश्चर्य होता है। जो उपाय किये भी जाते थे वे इस महामारी के उभड़े हुए लक्षणों को दबाने के उद्देश्य से। व्याधि के मूल कारण को समूल नष्ट करने की बात मानो कोई सोचता ही न था। उपदंश-वृद्धि के घातक परिणामों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता था। यह सभी जानते हैं कि यह रोग कई पीढ़ियों तक चलता है, और पिता के पाप का फल पुत्र, प्रपौत्र आदि को भोगना पड़ता है। यदि इच्छानुसार देश भर में यह रोग फैलने पाये तो कुछ ही पीढ़ियों बाद सारा राष्ट्र निकम्मा और पंगु हो जायगा। इसकी वृद्धि में सहायक होती थी वे बहुसंख्यक विदेशी वेश्यायें, जिन्होंने मानो सारे देश को दूषित करने का प्रण कर रक्खा था। बड़े-बड़े यहूदी दूकानदारों की लड़कियाँ हमारे राजा-रईसों की प्रेयसियाँ बनने योग्य समझी जाती थी। क्रमशः मध्यवर्ग के जर्मन भी उनका अनुकरण बड़े चाव से करने लगे। इस प्रवृत्ति से उपदंश का प्रसार तो हुआ ही, पर एक दूसरी बुराई बढ़ने लगी जो इससे भी कहीं अधिक घातक थी। हमारी नस्ल बिगड़ने लगी। विशुद्ध आर्य-रक्त का सम्मिश्रण अनार्य और निम्नतर जाति से होने लगा। इस प्रकार के सहवास से निम्नतर जाति की नस्ल तो सुधरती है पर उच्चतर जाति की नस्ल बिगड़ जाती है। इस अनुचित सम्बन्ध से जर्मन-जाति का अधःपतन निश्चित था। पर बड़े खेद का विषय है कि हमारे राष्ट्र के अधिकारी सब कुछ देखते हुए भी अंधे हो रहे थे।

इस बुराई को समूल नष्ट करने का उपाय क्या था? सबसे पहले प्रबल देशव्यापी आन्दोलन और प्रचार-द्वारा समस्त जन-समूह को इन बुराइयों के घातक परिणामों से भली भाँति परिचित कराना। यह लोक-विदित है कि किसी रोग की सफल चिकित्सा करने के लिए पहले उस रोग का ठीक निदान या कारण समझना चाहिए। उपदंश को रोकने के लिए बहुत-सी पेटेंट चीज़ें बाज़ार में थीं पर उनसे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती थी। इसकी जड़ पर कुठाराघात करने की कोई योजना राष्ट्र के कर्णधारों को नहीं सूझती थी। जाति के बच्चे-बच्चे को यह पहले समझा देना था कि इस वेश्यावृत्ति और अनार्य सम्बन्ध से भविष्य में तुम अपना अस्तित्व ही खो बैठोगे।

मैं मानता हूँ कि वेश्यागमन को सर्वथा बन्द करना आसान काम नहीं है, पर इतना सम्भव है कि देशवासियों के लिए इसकी आवश्यकता न्यूनतम कर दी जाय। इसके लिए सबसे पहले युवकों के कम उम्र में विवाहित होने की प्रथा चलानी चाहिए। राष्ट्र को उसके लिए उचित सुविधा देना और उसके अनुकूल वातावरण उपस्थित करना चाहिए। सबसे पहले युवकों के वेतन मे वृद्धि कर देनी चाहिए जिससे आरम्भ मे ही वे अपनी गृहस्थी सँभालने योग्य हो सकें। उस समय वेतन का स्केल बहुत नीचा था। ऐसी अवस्था मे अधिकतर युवक दीर्घकाल तक अविवाहित रहना पसन्द करते थे।

दूसरी आवश्यक बात थी सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति करना। स्कूल-कालेजों में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य और शरीरचर्या पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता था। जनता में यह विश्वास फैला था या फैला दिया गया था कि स्वास्थ्य और शारीरिक उन्नति व्यक्तिगत बातें हैं। बौद्धिक उन्नति ही सब कुछ समझ ली गई थी। पर यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन हो सकता है। जिसका शरीर ठीक नहीं वह किसी भी राष्ट्र के लिए भारस्वरूप ही रहेगा चाहे कितनी ही किताबी जानकारी उसमें क्यों न भर दी जाय। स्कूल-

कालेजों के विद्यार्थी विद्यालयों से निकलकर सड़कों पर आवारागर्दी करते, सिनेमा-थियेटरों की ख़ाक छानते और भाँति-भाँति के दुर्गुण सीखते थे। राष्ट्र का यह कर्त्तव्य था कि उनका अतिरिक्त समय स्वास्थ्यप्रद खेलों और बल-वर्द्धक व्यायामों में लगावे जिससे उनका शरीर दृढ़ और कष्टसहिष्णु बन सके।

इस तरह का देशव्यापी आन्दोलन करने के बाद कठोर नियमों (सरकारी क़ानून) द्वारा उपदंश आदि संभोग-जनित रोगों से ग्रस्त लोगों के लिए संतानोत्पादन असंभव कर देना चाहिए था। इस तरह का क़ानून बडा कठोर और बर्बरता-पूर्ण जान पड़ेगा, पर हमारी भावी संतानों और उगते हुए राष्ट्र की आशाओं को देखते हुए इससे अधिक उपादेय विधि असंभव है। स्मरण रहे कि उपदंश का रोग दस पीढ़ियों तक पीछा नही छोड़ता और इस रोग से ग्रस्त संतति किसी भी राष्ट्र के लिए भार हो सकती है।

युद्ध के पहले के जर्मन-राष्ट्र (दूसरी 'रीख') में हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक अधोगति भी चिन्ताजनक रूप ग्रहण कर रही थी। मार्क्सवादियों ने कुछ ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया था कि जो कुछ हमारे प्राचीन साहित्य और कला में गर्व की वस्तु थी, उसे हम तुच्छ दृष्टि से देखने के आदी हो रहे थे। थियेटर या नाटक-भवनों तथा सिनेमा-गृहों में आदर्श कला की हत्या हो रही थी। इनमें 'नग्न' अश्लीलता और घोर नैतिक पतन का साम्राज्य था। बहुतेरे कला-केन्द्रों (Art centres) के द्वार पर यह नोटिस लगा रहता था—'केवल वयस्कों के लिए !'

ऐसे वातावरण से दूषित लोग खुले आम शिलर, गेटे और शेक्सपियर ऐसे साहित्यिक महारथियों का मख़ौल उड़ाया करते थे। इनकी राय में आधुनिक साहित्यिकों की तुलना में ये विभूतियाँ कुछ भी नहीं थीं। पर कटु सत्य यह है कि उस समय के साहित्यिक और कलाकार किसी सुन्दर और लाभदायक वस्तु के सृजन में पूर्णरूप से असमर्थ हो

रहे थे। विशेषकर नाटक और साहित्य में तो मौलिक प्रतिभा का पूरा दिवाला था। बात असल में यह थी कि हमारे घर के शत्रुओं की उद्देश्य-सिद्धि के लिए पहली आवश्यक बात यह थी कि जो कुछ हमारे प्राचीन साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र मे अच्छा है उसके प्रति सर्वसाधारण में घृणा उत्पन्न कर दी जाय। जातीयता के विनाश और प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति के मूल में कुठाराघात करने का उपाय इससे बढ़कर दूसरा नहीं हो सकता। इस स्थिति के लिए भी मैं मार्क्सवादी विचारधारा को ही उत्तरदायी समझता हूँ।

इसी के साथ सार्वजनिक भवनों का प्रश्न भी आता है। हमारी पुरानी ऐतिहासिक इमारतें हमारी प्राचीन कला तथा संस्कृति की स्मारक होती हैं। सभ्यता और संस्कृति का महत्त्व समझनेवाले उन्नत राष्ट्र की दृष्टि में इस तरह की इमारतों का बड़ा मूल्य होता है। पर यह बड़ी लज्जा की बात है कि हमारे बड़े-बड़े आधुनिक शहरों में इस तरह की इमारतें खोजने से भी नहीं मिलतीं। छोटे से छोटे भी पुराने शहर में कोई न कोई इस तरह की इमारत होती है। पुराने रोम का नाम क्यों था ? वहाँ के कला-पूर्ण और अमर राजकीय प्रासादों, स्नानागारों तथा अन्य सार्वजनिक भवनों और मन्दिरों के कारण ! नागरिकों के गृहों तथा उद्योग-धंधों से सम्बन्ध रखनेवाली इमारतों के कारण रोम का नाम नहीं हुआ।

किन्तु बड़ी लज्जा का विषय है कि आधुनिक जर्मन-सरकार इस ओर से बिलकुल उदासीन है। जहाँ देखिए वहाँ यहूदियों की शानदार बड़ी-बड़ी दूकानें और उनके 'डिपार्टमेंट स्टोर' के भवन ही रह गये हैं। इनके सिवा फिर वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी इमारतें हैं। पर सार्वजनिक कला-पूर्ण भवनों के निर्माण के लिए राष्ट्र बहुत थोड़ा रुपया खर्च करता है।

द्वितीय जर्मन-राष्ट्र के पतन के उक्त जितने भी कारण थे, उन सभों के मूल में मैं एक बात देखता हूँ। कोई निश्चित 'विचार' या आदर्श

उस समय जनता के सामने नहीं था। जनता के सामने एक स्पष्ट और सुनिश्चित लक्ष्य होना परमावश्यक है। लक्ष्य-भ्रष्ट होने से सभी बुराइयाँ एकत्र हो जाती है।

अब धर्म के क्षेत्र की स्थिति भी देखिए। लोगों को प्राचीन ईसाई-मज़हब से चिढ़ पैदा करा दी गई थी। अन्य घातक विचार-धाराओं के साथ मार्क्सवादी उत्तेजकों ने जनता को प्रचलित मत के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव भी सिखाया। ये धर्म और राजनीति को इस तरह मिला देते थे जिसमे इनका अपना स्वार्थ बने और जनता जाय चूल्हे मे। अपढ़ जनता में यह प्रचार किया जाता था कि ये प्राचीन धार्मिक सिद्धान्त तुम्हारी वर्त्तमान राजनीतिक या सामाजिक उन्नति मे बाधक हं। पर जब तक इसके स्थान पर कोई इससे अच्छा धर्म नही प्रचलित होता तब तक अपढ़ जनता अपना नैतिक आदर्श क्या बनाये। यह मानी हुई बात है कि अपढ़ जनता में दार्शनिक या तत्त्व-चिन्तक नही होते। उन्हें बहकाना सरल है। उनमे इतनी शक्ति नही कि अपने-अपने लिए उपयोगी कोई नया आध्यात्मिक मार्ग चुन लिया करे। जो लोग इन्हें सनातन मार्ग से विचलित करने की चेष्टा करते हैं वे देश के घोर शत्रु हैं। पर खेद है कि हमारे अधिकारी इन शत्रुओं को पहचानकर भी नहीं पहचानते थे। मज़ा यह कि एशिया और अफ्रीका आदि दूर के देशों मे मिशनरी-प्रचार के लिए ईसाई-सरकारें करोड़ों रुपये खर्च करती हैं, पर उनके घर ही म यह यहूदी विष सारी जनता को नास्तिक बनाये दे रहा है और ये हाथ पर हाथ धरे बैठी है। क्या ये इस बात को भूल गई कि यहूदियों ही के कारण प्रभु ईसा मसीह को सूली पर चढ़ना पड़ा था।

इन दिनों प्रायः यह भी सुनने में आता था कि जर्मन-पार्लमेंट अब बिलकुल निकम्मी हो गई थी। इससे बढ़कर मूर्खतापूर्ण कोई बात नही हो सकती थी। मैं पूछता हूँ, 'रिपब्लिक' होने के पहले ही जर्मन-पार्लमेंट (रीख स्टाग) ने कौन-सी तत्परता दिखाई थी? सदा से

ही इसका यही हाल रहा। और इसने सबसे बड़ी अदूरदर्शिता दिखाई थी सेना के सम्बन्ध में। इस सम्बन्ध में जो भयानक भूल इसने की उसके लिए प्रलय के दिन तक जर्मन-जनता उसे धिक्कारेगी। क्या स्थल-सैन्य, क्या नौसेना, सभी ओर वही हाल था।

एक ओर तो मार्क्सवादी और जनसत्तात्मक प्रेस में 'जर्मनयुद्धवाद' की तीव्र आलोचना होती थी, दूसरी ओर इसी प्रेसवाले पत्रकार देश की रक्षा के लिए जो कुछ भी सैन्य-संग्रह या युद्धसज्जा की तैयारी की जाती, उसका जी-जान से विरोध करते थे। इन्हीं के घातक प्रचार के कारण देश में कोई प्रबल सामरिक योजना कारगर नहीं हो पाती थी। लूडेनडार्फ़ बेचारा अकेला चिल्लाता रह गया पर उसकी बात सुनी नहीं गई। विशेषतः जलसेना की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। इस सम्बन्ध में जापान का नया उदाहरण भी सामने था। पर उसे देख-कर भी कोई लाभ न उठाया गया।

और फिर तमाशा यह कि ये ही प्रेसवाले जर्मनी की रणनीति का भंडाफोड़ करने और खुले आम उसका मखौल उड़ाने में भी लज्जित नहीं होते थे।

अन्त में यह कहना पड़ेगा कि द्वितीय जर्मन-साम्राज्य के पतन का कारण था जाति और नस्लवाले प्रश्न के प्रति उदासीनता। राष्ट्र के नायकों ने मरते दम तक इस भयानक प्रश्न के महत्त्व को नहीं परखा।

---

# ग्यारहवाँ परिच्छेद

## जाति और नस्ल

संसार में कुछ बातें इतनी स्पष्ट और इतनी सत्य होती हैं कि लोग उन्हें रात-दिन बराबर देखते हुए भी अनदेखी कर देते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वे सभी कुछ जानते हैं पर सच बात यह है कि प्रकृति के स्पष्ट इंगित को भी वे नहीं पहचानते। प्राणियों के विकास-क्षेत्र में प्रकृति हमें किस सनातन सत्य की ओर इशारा करती है? जो प्राणी जिस नस्ल का है वह उसी के साथ सहवास करता है। यह बात पशुओं के जीवन की ओर ध्यान देने से और स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए चूहों की विभिन्न जातियों को ही लीजिए। पहाड़ी चूहा घरों में रहनेवाली चुहिया के साथ कभी जोड़ा नहीं खायगा। घर का चूहा घर की चुहिया के साथ ही जोड़ा लेगा; खेत-खलिहान के चूहे अपनी ही जाति की चुहियों से मेल खायँगे। इसी प्रकार बड़े पशुओं में भी वही अटल नियम है। भेड़िया कुतिया का पीछा कभी नहीं करेगा।

पर जहाँ नस्ल सुधारने के लिए या किसी अन्य कारण से दो बेमेल नस्लों को मिलाया जाता है वहाँ परिणाम क्या होता है? इससे जो बच्चा होता है वह उन दोनों में से कमज़ोर नस्लवाले से अच्छा होता है पर ऊँची नस्लवाले से घटकर ही ठहरता है। इस रीति से हानि ऊँची नस्ल की ही होती है।

ठीक यही नियम मनुष्य-जाति पर भी लागू होता है। ऊँची नस्ल के पुरुषों का निम्नतर जातियों की स्त्रियों से सम्बन्ध होने पर जो

सन्तानें होंगी वे उन पुरुषों से अवश्य निम्नकोटि की होंगी। उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ दोनों ही उनके पिताओं से हीनतर होंगी।

इतिहास से इस कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। उत्तर अमेरिका के ट्यूटन जाति के लोगों ने आदिम निवासियों से स्त्री-सम्बन्ध नहीं किया और अपनी जाति के रक्त को शुद्ध रक्खा। इसका फल यह हुआ कि वे आज समूचे अमेरिका के स्वामी हैं। पर मध्य और दक्षिण अमेरिका के लोगों ने आदिम निवासियों के साथ सब प्रकार का सम्बन्ध किया जिसका फल यह हुआ कि उनकी नस्ल बिगड़ गई और उनकी वर्णसङ्कर सन्तति सब प्रकार से हीनतर होती चली गई। इसी प्रकार उच्चतर जातियाँ अपने ही हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारकर अपना सत्यानाश करती आई हैं।

नस्ल की विशेषता केवल शारीरिक विभिन्नताओं से ही सम्बन्ध नहीं रखती। मानसिक अवस्था और विचारधारा में भी बड़ा विभेद होता है। विभिन्न जातियों में प्रत्येक जाति की विचारधारा अलग-अलग होती है। प्रत्येक नस्ल के लोगों के कुछ ख़ास ढङ्ग के विचार और कुछ ख़ास आदतें होती हैं जो और लोगों में नहीं पाई जातीं। इनका स्वभाव, इनकी प्रकृति, सभी औरों से भिन्न होती है।

इस समय संसार में मनुष्य का किया हुआ जो कुछ भी हमारी श्रद्धा और आदर की वस्तु है उसका श्रेय केवल आर्य-जाति को है। कला, साहित्य, विज्ञान तथा सभ्यता और संस्कृति की दुनिया में जो कुछ भी अमर, उच्च और सबके लिए आदर-योग्य है वह सभी आर्यों की देन है। अन्य जातियाँ या तो इनकी धरोहर की रक्षा में तत्पर हैं या इनके विनाश में। मनुष्य-जाति में तीन प्रकार के लोग देखने में आते हैं। एक तो वे जिन्होंने मानवता के कल्याण के लिए अपनी अलौकिक देवोपम प्रतिभा के बल से सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया। दूसरे वे जिन्होंने उस संस्कृति को सुरक्षित रक्खा। और तीसरे वे जो इस अमर विभूति को नष्ट करने के लिए ही मानो पैदा हुए हैं।

योरप में यूनानी प्रतिभा और ट्यूटन निपुणता के सहयोग से यहाँ की सभ्यता का निर्माण हुआ। इस सभ्यता के केवल बाह्य रूप पर एशिया की सभ्यता की छाप कुछ अंश तक है। पर जापानियों का यह दावा ठीक नहीं कि जापान की अपनी कोई मौलिक संस्कृति थी जिसे उन्होंने यूरोपवालों की विधि और निपुणता के सहयोग से सजाया।

साराश यह कि यदि सचाई के साथ जाँच की जाय तो पता चलेगा कि सभ्यता और संस्कृति का मौलिक स्रोत बहानेवाली जाति एक ही थी, और वह है आर्य-जाति। शेष सभी जातियों ने उसी सभ्यता और संस्कृति को अपने देश का जामा पहनाकर अपने रंग में रँग लिया। उनको केवल उसकी रक्षा या हिफाज़त का ही श्रेय दिया जा सकता है।

सच्ची प्रतिभा ईश्वर की देन है। वह शिक्षा या अभ्यास से नहीं प्राप्त होती। इस बात का सबसे स्पष्ट प्रमाण आर्य-जाति में मिलता है। सृष्टि के आरम्भ में इस जाति के लोगों ने ही अन्य जातियों को जीता और उन्हें अपना दास बनाया। उनसे इन्होंने हल जुतवाया और मेहनत-मजदूरी का सब काम पहले उन्हीं से लिया गया। इसके बहुत दिन बाद वह सब काम बैल और घोड़ों आदि से लिया जाने लगा।

पर खेद है कि क्रमशः यह विजेता जाति अपनी विशेषता को स्थिर नहीं रख सकी। इसने अपने रक्त का सम्मिश्रण विजित जातियों के साथ होने दिया। फलतः यह जाति अपने उस उच्च आसन से हटने लगी और विजित जातियाँ इसके रक्त के प्रभाव से ऊपर उठने लगीं। युद्ध में हारने से किसी जाति का पतन नहीं होता। जाति का पतन वास्तव में नस्ल बिगड़ने से होता है।

आर्य और अनार्य-जाति का वास्तविक पार्थक्य उनके विचार और स्वभाव में लक्षित होता है। छोटी जातियाँ जो कुछ करती हैं वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के लिए। इनकी मनोवृत्ति की तुलना उन पशुओं से की जा सकती है जिनका कर्मक्षेत्र उदर-पूर्ति और दाम्पत्य

सम्बन्ध तक ही परिमित होता है। अपना पेट किसी तरह पालना और इंद्रिय-तृप्ति करना, बस ये ही दो काम ये जानते हैं। स्वार्थत्याग या परोपकार की भावना ही एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य और पशु तथा आर्य अथवा अनार्य का भेद स्पष्ट होता है। अपने परिवार या अपने संप्रदाय की रक्षा के लिए निम्न जातियाँ भी लडती मरती हैं। पर क्या भेडियों का झुड भी ऐसा नहीं करता जब उन्हें किसी साधारण शत्रु से अपनी रक्षा करनी होती है? पर उस शत्रु के दूर होते ही, उसी क्षण, ये आपस में ही लड मरते है। असल कसौटी तो परोपकार के लिए आत्मत्याग और अपना जीवन तक विसर्जन करने की क्षमता है।

यह क्षमता उसी जाति मे हो सकती है जिसके सामने कोई ऊँचा आदर्श होता है। मनुष्य जातिमात्र के लिए मंगल-कामना से प्रेरित होकर सत्यं, शिवं, सुन्दरं का सृजन किस जाति ने किया है? क्या यह भी बताना होगा कि इसका एकमात्र श्रेय आर्य-जाति को है।

यहूदी जाति की मनोवृत्ति बिलकुल इससे उलटी है। ये जो कुछ करते हैं अपने ही लिए करते है। इनका कोई आदर्श नहीं है। गैर-यहूदी के लिए कुछ करना इनके लिए असम्भव है। आदिकाल से लेकर यहूदी अब तक ज्यों का त्यों है। उसके मस्तिष्क या विचारों का कोई विकास ही नहीं हुआ।

इसका कारण यही है कि यहूदियों के सामने कभी कोई आदर्श नही रहा। ये अपने सम्प्रदायवाले लोगों से एकमत होकर इसी लिए काम करते हैं कि इनको साधारण शत्रु से अपनी रक्षा करनी पड़ती है। पर यदि अन्य जातियों का भय इनको न रहे या संसार में यहूदी को छोड़कर कोई अन्य जाति न रह जाय तो ये आपस में ही, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए, लड़ मरेंगे।

दूसरा प्रमाण यह है कि लोकमंगलकारी सभ्यता या संस्कृति के क्षेत्र मे यहूदियों की कोई देन नहीं है। कला या साहित्य की दुनिया में भी इनका कोई स्थान नही है। इन क्षेत्रों में जहाँ तक नकल और चोरी

से काम चल सकता है वहीं तक यहूदी की गति है। यहूदी ने कभी सृजन या उत्पादन नहीं किया। 'यहूदी कला' या 'यहूदी साहित्य' नाम की कोई चीज़ दुनिया में नहीं है। इन्होंने साहित्य के क्षेत्र में कुछ किया भी तो 'नाटक' में जिसमें मौलिक प्रतिभा की आवश्यकता सबसे कम होती है। पर यहूदी नाटककारों को उठानेवाले इनके अपने समालोचक जो असंख्य हैं। किसी यहूदी का कोई नाटक निकला नहीं कि ये सब प्रेस में वह धूम मचा देते हैं कि मानो शेक्सपियर का अवतार ही हो।

सारांश यह कि यहूदी बुद्धि और विचार-धारा में सत्य और शिवं का लेश मात्र नहीं है। इनके दिमाग़ में संसार और मनुष्य-जाति के विनाश की ही स्कीम निकल सकती है, दूसरी नहीं।

ये सदा दूसरों के देश में रहते आये हैं। इनका अपना कोई देश या राष्ट्र नहीं है। दूसरों के राष्ट्र के अन्दर ये अपना एक राष्ट्र बना लेते हैं। इनकी अपनी कोई जाति भी नहीं। फ़्रांस में ये फ़्रेंच बन जाते हैं, इँगलैंड में अँगरेज़ और जर्मनी में जर्मन। इनका धर्म भर दूसरों से अलग होता है। फिर इनकी धर्म-पुस्तक भी कैसी है। उसमें की सभी बातें अनुकरण और चोरी की हैं। इनके उस धर्मग्रंथ में ही यहूदी चरित्र का सब कुछ देखने को मिल जाता है। उसमें मृत्यु के बाद का जीवन माना ही नहीं गया है। सब कुछ यहीं तक, इसी जीवन तक। सभी आर्य-जातियों के धर्मग्रंथों में मृत्यु के बाद के जीवन पर बड़ा ज़ोर दिया गया है। वर्तमान जीवन पहले से चली आती हुई शृङ्खला का एक अंश मात्र है। पर एक यहूदी के लिए वर्तमान जगत् ही सब कुछ है। यही कारण है कि वह इतना स्वार्थी और इतना चालाक है। फिर यहूदियों के धर्मग्रंथ में नैतिक प्रश्न छुआ तक नहीं गया है। उसमें आर्थिक प्रश्न ही को सारा महत्त्व दे दिया गया है। ईसाई-मत के अधिष्ठाता ने यहूदी को ठीक पहचाना था। उसने बहुत पहले समझ लिया था कि यह जाति मनुष्यता के

विनाश के लिए ही पैदा हुई है। उसने प्रभु के मंदिर में इन मानव-शत्रुओं को स्थान नहीं दिया; क्योंकि ये अपने धर्म को अपनी व्यापारिक स्वार्थ-सिद्धि का उपाय बनाते थे। पर यहूदी की अपनी इस धारणा के लिए ही वह (महात्मा ईसा) 'क्रास' में लटका दिया गया और उसके मत के अनुयायी कहलानेवाले ईसाई, यहूदी के लिए, चुनाव में वोट माँगते फिरते हैं!

यहूदी दूसरी जातियों की भाषा अपनाने को बाध्य है, मानो इनकी अपनी कोई भाषा नहीं। फ्रांस में इनकी भाषा फ्रेंच, इँगलैंड में अँगरेज़ी और यहाँ जर्मन! पर यदि, भगवान् न करे, सारा संसार यहूदियों का ग़ुलाम हो जाय तो इनको एक नई भाषा बनानी पड़ेगी (जैसे एस्प्रान्टो) जिससे कि सब पर प्रभुत्व जमाने में सुगमता हो!

यहूदियों को ठीक से समझने के लिए शुरू से इनका ढंग जानना होगा। अपने प्रारंभिक जीवन से लेकर आज तक जिस सीढ़ी से होकर ये ऊपर चढ़े हैं उसकी पहली से लेकर अब तक की कुल श्रेणियों को देख जाना पड़ेगा।

(१) प्रथम यहूदी यहाँ रोमन हमले के समय आया था जब कि यह 'जमीनिया' कहलाता था। वह परदेशी व्यापारी के रूप में पहले-पहल प्रकट हुआ।

(२) धीरे-धीरे, पर दृढ़ता के साथ, यह जाति अपने आस-पास के आर्थिक जीवन में भाग लेने लगी, पर केवल मध्यस्थ या 'मिडिल मैन' के रूप में। अनादिकाल के अभ्यास से इनकी व्यापार-बुद्धि बड़ी पैनी हो चुकी थी। आर्य बेचारे हिसाब-किताब में बड़े भोले थे, और उनकी ईमानदारी और सचाई की कोई सीमा न थी। बही-खाता और व्यापार-बुद्धि आर्यों में कभी न हुई होगी। यह उनके रक्त में ही नहीं है। यह तो यहूदियों का ही हक़ है। क्रमशः निश्चय हो चला कि इस दिशा में यहूदियों का एकाधिपत्य सुनिश्चित है।

(३) अब यहूदियों के पैर जम चले। अब तक उनका आर्थिक एकाधिपत्य स्थापित हो चला था। अब उन्होंने राष्ट्र के अन्दर अपना

एक दूसरा राष्ट्र स्थापित करने की सोची। रुपये-पैसे के सब मामले अब यहूदियों के हाथ में थे।

(४) अब देश की पूरी आर्थिक बागडोर यहूदियों के हाथ में थी। इनके लेन-देन के व्यापार ने विकराल रूप धारण किया। ग़रीब जनता में क्षोभ भी बढ़ा। कभी-कभी तो क्रोधान्ध होकर इन्होंने बस्ती की बस्ती जला डाली। ब्याज और सूद-दरसूद की वसूली में यहूदी पिशाच से भी कठोर है।

(५) अब यहूदियों ने अपना असली रूप प्रकट करना शुरू किया। अब ये राजाओं की हाज़िरी बजाने लगे। शासकवर्ग को ये अपनी मुट्ठी में करना चाहते थे। उनकी ख़ुशामद, चापलूसी और क़र्ज में बड़ी-बड़ी रक़में देकर उन्हें अपने वश में करना इन्होंने शुरू किया।

(६) अब जर्मनी के राजा यहूदियों के हाथ में थे और इन्हीं की सलाह से वे भी प्रजा के भक्षक बन चले। उस समय के जर्मनी के राजा लोगों द्वारा जर्मन प्रजा में त्राहि-त्राहि मची थी, पर इस अत्याचार की आड़ में यहूदी जाति थी। वह जो चाहती थी वही राजा लोगों से करा लेती थी।

(७) यहूदियों के हाथ की कठपुतली बनकर राजा-नवाबों ने अपने पांव अपने ही हाथों कुल्हाड़ी मारी। ये इनके बेहद क़र्जदार थे और उसे पाटने के लिए प्रजा पर अमानुषिक उत्पीड़न करने को विवश थे। अब दरबारों में यहूदी राज्य हो चला था। इन्होंने राजाओं को वश में कर अपने सम्प्रदाय के लिए भाँति-भाँति की विशेष सुविधाएं प्राप्त कर ली थीं। राजाओं की ख़ुशामद और चापलूसी से जर्मनों के बराबर का नागरिक स्वत्वाधिकार तो इन्होंने करा ही लिया था।

(८) पर इस समय एक मार्के का परिवर्तन होने लगा। अभी तक ये पूरे यहूदी थे पर अब और कुछ होने लगे। दरबारों में तो इनके साथ लज्जाजनक अनुचित सम्बन्ध होते ही थे पर अब अन्य वर्गों

में इस प्रकार के अनुचित सम्बन्ध बढ़ने लगे। फ़्रेडरिक महान् के समय तक ये परदेशी विजाति ही समझे जाते थे। पर अब इनको साधारण लोगों से अलग करना कठिन होने लगा। महाकवि गेटे पागल या प्रतिक्रियावादी नहीं था, जो उसने इतने ज़ोरदार शब्दों में यहूदियों और ईसाइयों के बीच विवाह-सम्बन्ध का विरोध किया था।

पर यहूदी तो एकाएक जर्मन बन बैठे। उन्होंने देखा कि राजाओं के दिन अब लद गये और अब सर्वसाधारण से अपने को एक करके दिखाने मे ही कुशल है। अब वे पूर्ण नागरिक स्वत्वाधिकारों के स्वयं जर्मन बनने की धुन में अपनी सारी चालाकी और धूर्तता लगाने लगे।

(९) अब दरबारी यहूदी एकाएक जातीयतावादी हो गये। पर गुप्त रीति से वे तत्कालीन शासक-समुदाय से घनिष्ठतर सम्पर्क बढाते जा रहे थे और एक ओर इनका दूसरा प्रतिनिधि दल 'जातीय' बन रहा था। इस उद्देश्य को हल करने के पहले यहूदियों ने जनसमाज के प्रति किये हुए पिछले पापों का प्रायश्चित्त खुले आम करना शुरू किया। ये मनुष्य-जाति के 'बन्धु' और 'उपकारक' के रूप में दिखाई पड़ने लगे। यहीं तक नहीं। ये एकाएक 'लिबरल' (नरम दल) बनकर जनसमूह के सुधार और उन्नति के अगुआ बन चले।

इसके साथ ही सर्वसाधारण की आर्थिक स्थिति को जड़ से काट डालने का काम इनका गुप्त रीति से चलता जा रहा था। 'स्टाक एक्स-चेंज' में इनका अखण्ड राज्य था। सब बड़े बैंक इनके हाथ में थे। दूसरे शब्दों में शासन की बागडोर नहीं तो कम से कम उसे चालू रखने की शक्ति यहूदियों के हाथ में हो गई थी।

पर तमाशा यह था कि एक ओर तो ये जनसमाज की 'उन्नति', 'स्वतन्त्रता', 'सुधार' आदि के नाम पर अपने को जर्मन पबलिक से एक कर रहे थे और दूसरी ओर अपनी जातीयता के शुद्ध रखने में भी बड़े सावधान थे। ये कभी-कभी अपनी लड़कियों की शादी तो ईसाइयों से कर देते थे पर ईसाई लड़कियों से स्वयं विवाह कभी नहीं करते

थे। बहुत कम ऐसी घटनायें होती थीं। तात्पर्य यह कि दूसरों की नस्ल बिगाड़ना तो इन्होंने अपना मुख्य कर्त्तव्य समझा पर अपनी नस्ल को ठीक रखने का भरसक प्रयत्न किया। ये अपनी लड़कियाँ प्रायः शासक-वर्ग में देते थे। फल यह हुआ कि शासक-समुदाय की सन्तानें वर्णसङ्कर और निकम्मी हो चली।

(१०) इस अवसर पर डेमोक्रेसी, जनसत्तात्मक शासन-पद्धति या पार्लमेंट-पद्धति को प्रचलित करने में यहूदियों ने अपनी पूरी शक्ति लगानी शुरू की। कारण यह था कि इसी पद्धति-द्वारा इनकी उद्देश्य-सिद्धि सम्भव थी।

(११) इस समय एक असाधारण आर्थिक उथल-पुथल से सर्व-साधारण के समाज में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहे थे। श्रमिक समुदाय, खासकर कारखानों में काम करनेवालों की दशा बड़ी शोचनीय हो उठी। परोक्ष रूप से उनकी दुर्दशा के कारण ये यहूदी ही थे और प्रकट रूप से ये इनके सबसे बड़े हिमायती बन रहे थे। मज़दूरों के स्वत्वों की रक्षा के लिए इन्होंने ट्रेड यूनियन (श्रमिक-संघ) नाम की संस्थायें स्थापित की। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी और ट्रेड यूनियन ये दोनों जर्मन जन-समुदाय का ग्रास करने के लिए राहु और केतु के रूप में प्रकट हुए। इनकी विधि यह थी—पहले तो मध्यवर्ग के स्वत्वों के हिमायती बनकर इन्होंने राजसत्ता को चौपट किया। और अब उसी मध्यवर्ग को चौपट करने के लिए इन्होंने श्रमिक समुदाय का पल्ला पकड़ा। आन्दोलन के लिए प्रेस को इन्होंने पहले ही अपने हाथ में कर रक्खा था। इन्होंने मज़दूरवर्ग की शिकायतों को बड़े ध्यान से समझना और उनसे सहानुभूति दिखाना शुरू किया। उनके सम्बन्ध में जितने प्रश्न थे, सबका इन्होंने गम्भीर अध्ययन किया और फिर उनको दूर करने की एक नई ही विचार-धारा निकाली। इनके सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए इन्हें सम्पन्न वर्गों के प्रति उत्तेजित करना और उनके प्रति घोर असन्तोष और घृणा के भावों का

प्रचार करना आरम्भ किया। फिर उस घातक मार्क्सवादी सिद्धान्त का आविष्कार हुआ। इस आन्दोलन का पूरा नेतृत्व यहूदियों के हाथ में था और इसमें भाग लेनेवाले एकमात्र निम्नवर्ग के श्रमिक लोग थे।

पर बेचारे अशिक्षित और भोले-भाले मज़दूर लोग इनके असली खेल को नहीं समझ सकते थे। इस आन्दोलन का भीतरी रहस्य क्या था, इसको शायद ही कोई समझता था। सरकारी अफ़सरों के जूँ तक नहीं रेंगती थी। उन्नतवर्ग के लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे थे। यहूदी पत्रों के आन्दोलन का कोई जवाब न देता था। जिसे चाहते उसे ये लोग रगड़ डालते थे।

(१२) अब यहूदियों का सिक्का पूरा जम गया था। राष्ट्र मानो इन्हीं का था। जब यह स्थिति हो गई तो इनके एक दल ने निडर होकर यह भी घोषित करना शुरू किया कि हम परदेशी हैं, और फ़िलिस्तीन में जाकर अपना अलग राष्ट्र स्थापित कर हम सन्तुष्ट होंगे। पर इसके मूल में दूसरा ही रहस्य था। ये चाहते यह थे कि धर्मकेन्द्र के नाम पर किसी एक जगह सारे संसार के आर्थिक शोषण का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र स्थापित करें। फिलिस्तीनवाले मामले का रहस्य यही था। वहाँ जाकर रहने और अलग राष्ट्र स्थापित करने की भावना इनमें क़तई न थी। ये जहाँ जमे थे वहाँ से टस से मस नहीं होना चाहते थे। इनका एक दल अब भी अपने को फ़्रांसीसी, अँगरेज या जर्मन कहता था, पर अब क्रमशः ये इतने निश्शंक हो चले थे कि प्रायः अपने को सबसे अलग और विदेशी कहने में हिचकते न थे।

(१३) जर्मन लड़कियों को बरगलाना और उनका सत्यानाश कर उन्हें कुलटा बनाना यहूदी युवकों का धार्मिक कर्त्तव्य-सा हो रहा था। इसका एक सुव्यवस्थित केन्द्र था। सारी जर्मन-जाति को वर्णसङ्कर बनाने का बीड़ा ये उठा चुके थे। राइनलेंड में निग्रो लोगों को ये ही लाये। इनका उद्देश्य यह था कि इनके ज़रिये सारी जाति को वर्णसङ्कर बनाया जाय। क्योंकि ये भली भाँति जानते थे कि जब

तक जर्मन प्रजा का रक्त शुद्ध और उसकी नस्ल ठीक है, तब तक ये उस पर पूरा प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सकते। यहूदी इस बात को भली भाँति समझते हैं कि उनका सिक्का वर्णसङ्कर प्रजा पर ही जम सकता है।

राजनीति के मैदान में अब यहूदियों को एक क्रान्ति उपस्थित करने की आवश्यकता जान पड़ी। इसके लिए सबसे अच्छा उपाय उन्हें यह सूझा कि जर्मन-विरोधी राष्ट्रों से साज़िश कर जर्मनी को किसी बड़े युद्ध में फँसा दिया जाय और फिर जब पूरी सेना लड़ाई के मैदान में हो तब भीतर से देश में क्रान्ति करा दी जाय; क्योंकि अनुभव उन्हें यह बता रहा था कि बिना बाहरी शत्रु की सहायता से जर्मनी में क्रान्ति कराना कठिन होगा।

उनका उद्देश्य सफल हुआ।

(१४) अब उस अन्तिम क्रान्ति का समय भी आ पहुँचा। राजनैतिक शक्ति हाथ में आते ही यहूदी फिर 'यहूदी' हो गया। 'जनसत्तावादी' यहूदी, फिर 'दीनबन्धु' यहूदी और अब 'सच्चा' यहूदी (Jew of the blood) बन गया। कुछ ही दिनों में वह यह चेष्टा करने लगा कि जिन थोड़े-से लोगों में जातीयता की भावना अब भी विद्यमान है, उन्हें किसी प्रकार कंटक की भाँति दूर किया जाय, जिससे सारी प्रजा को गुलाम बनाकर मनमाना अत्याचार करने में सुविधा हो।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण रूस से मिलता है। वहाँ यहूदियों ने धर्मान्धता का सहारा लेकर एक धक्के में अमानुषिक अत्याचार और यत्रणा देकर तीन करोड़ आदमियों को मरवा डाला। इनमें से अधिकांश भूखों मार डाले गये। और ऐसा केवल इस उद्देश्य से किया गया कि एक मुट्ठी भर पढ़े-लिखे यहूदी एक महान् जाति पर एकाधिपत्य स्थापित कर मनमाना अत्याचार करें।

जर्मन-जाति के अधःपतन के सब कारणों में मुख्य कारण था जाति और नस्लवाले प्रश्न के प्रति उदासीनता। सारी बुराइयों की जड़ में

यही एक बात थी। सन् १९१८ की पराजय को सहन करना कुछ मुश्किल था। जर्मनी ने अतीत में जितनी विजय प्राप्त की हैं, उनके सामने यह कुछ भी नहीं था। यह पराजय हम लोगों की अधोगति का कारण नहीं थी। संसार में सभी वस्तुएँ सुधारी जा सकती हैं। यह पराजय भी भविष्य में बृहत्तर विजय का कारण बनाई जा सकती है। पर शर्त यह है कि जाति का रक्त शुद्ध हो। बिगड़ी हुई नस्ल से कुछ काम नहीं हो सकता।

१९१४ के अगस्त में जो जर्मन-जत्थे युद्ध-स्थल में थे, उनमें जातीय गौरव की अन्तिम झलक-मात्र रह गई थी। देश के अन्दर ही उनमें भीतर ही भीतर घुन लग चुका था। असल बुराई को कोई पहचान नहीं रहा था। पर इस पराजय के बाद कुछ-कुछ आँखें खुलीं। अब हमने यह निश्चय कर लिया था कि एक नया आदर्श स्थापित किये बिना जर्मनी का अतीत गौरव फिर से नहीं लाया जा सकता। हम लोग इस नये आदर्श के साथ आन्दोलन करने को दृढ़-प्रतिज्ञ हुए।—**"जर्मन-राष्ट्र जर्मनों के लिए।"**

---

# बारहवाँ परिच्छेद

## जर्मन नेशनल सोशलिस्ट पार्टी का विकास

जनता जब अपनी वर्त्तमान परिस्थिति से ऊब जाती है तब उसमें आवश्यक परिवर्त्तन कर डालने के लिए वह उतावली हो जाती है। ऐसे ही समय में जनता में से एक व्यक्ति परिवर्त्तन की निश्चित योजना लेकर आगे आता है। वह नेता बनता है। उस क्रान्ति का समस्त यश-अपयश उसी नेता को मिलता है क्योंकि उसी के मस्तिष्क से वह योजना निकला करती है। जनता तो केवल विश्वास के साथ उसका अनुसरण भर करती है। अभिप्राय यह है कि क्रान्ति के भाव मूलरूप से जनता में ही रहते हैं। नेता केवल उन्हें स्पष्ट और व्यावहारिक रूप प्रदान करता है।

इस परिच्छेद में मुझे अपने आन्दोलन की रूप-रेखा और उसके सिद्धान्तों का निरूपण करना है। साथ ही उन कठिनाइयों का भी वर्णन करना है जो पग-पग पर हमारा मार्ग रोकने के लिए आगे आ खड़ी होती थीं।

सबसे पहले यह देखना है कि इस आन्दोलन के जन्म के समय देश की स्थिति क्या थी। सन् १९१८ में सारी जर्मन-जाति दो दलों में विभक्त हो गई थी। इनमें से एक तो वह बुद्धिवादी वर्ग था, जो कहने को तो जातीयतावादी था पर वास्तव में यह जातीयता का ठीक अर्थ तक नहीं समझता था। ये लोग अपनी बुद्धि और क्रम के ज़ोर से जाति का उत्थान करने का दम भरते थे। इनके मुक़ाबिले में वह करोड़ों की संख्यावाला महान् जन-समुदाय था जिस पर मार्क्स-वादी विष अपना पूरा प्रभाव कर चुका था। इनमें जातीयता नाम-

मात्र को नहीं रह गई थी। यहाँ तक कि ये विदेशी शत्रु का स्वागत तक करने को तैयार थे। हमारा आन्दोलन सबसे पहले इनके लिए था। यह स्पष्ट था कि इनको अपनी वर्त्तमान अवस्था से घोर असंतोष है। पर यहूदी प्रेस, सोशल डेमोक्रेसी और ट्रेड यूनियन के घातक प्रचारों तथा शिक्षा के प्रभाव से इनकी मनोवृत्ति ऐसी हो रही थी। ऐसे लोग या तो अल्पशिक्षित होते हैं या पूर्णतः अशिक्षित। चतुर प्रोपेगैंडा-द्वारा इनकी मनोवृत्ति इच्छानुसार बदल लेना सहज है। धूर्त्त यहूदियों ने इस बात को खूब अच्छी तरह समझा था, और उन्हीं के बहकावे में आकर इन्होंने देश के साथ ऐसा विश्वासघात किया था। यदि ऐन मौक़े पर श्रमिकसमुदाय ने, पीछे से, देश की पीठ में छुरा न भोंका होता तो हमारी विजय सुनिश्चित थी।

आज हमारे वामपंथी राजनीतिज्ञ कहते नहीं थकते कि उनकी तथा-कथित वैदेशिक नीति जर्मनी के निरस्त्रीकरण पर आधारित है। पर उनकी नीति देशद्रोहियों की नीति है। उनको यह उत्तर दिया जाना चाहिए कि जर्मनी के निरस्त्रीकरण की अवस्था तुम्हारे घातक देशद्रोह के कारण ही तो हुई। पहले तो तुमने जनता को बहकाकर देश का गला घोंटवाया और अब कहते हो कि बिना अस्त्र-शस्त्र के हम क्या करें!

दक्षिणपंथी नेताओं का अपराध भी कुछ कम नहीं है। उनकी असावधानी और कायरता के कारण ही यहूदी प्रचारकों का इतना हौसला बढ़ सका। वे हमारी जाति का सत्यानाश करते चले गये और अन्त तक इनके कानों पर जूँ तक न रेंगी! ये बराबर टालमटोल और हीला-हवाला करते रहे। यदि आरम्भ में ही इन्होंने इनके विरुद्ध कोई प्रबल नीति ग्रहण की होती तो आज यह नौबत ही न आती।

फिर ये लोग किसी प्रबल राष्ट्र को मित्र बनाने के पीछे न जाने क्यों इतने दीवाने रहते हैं। यही कायरों की रीति है। इनमें इतनी भी समझ नहीं कि किस राष्ट्र से हमें मैत्री स्थापित करनी चाहिए और किससे दूर रहना चाहिए। किसी राष्ट्र के पास बहुत बड़े परिमाण में

युद्ध-सामग्री का होना ही मानो इनके लिए सब कुछ है। सबसे पहले देखना चाहिए कि अंत तक मैत्री-निर्वाह करने का धैर्य और साहस किसमें है, मित्र के लिए मर मिटने का माद्दा किसमें है।

इस दृष्टि से ब्रिटिश जाति की तुलना संसार की और किसी जाति से नहीं हो सकती। युद्ध-सामग्री अपर्याप्त होने पर भी जिस किसी लड़ाई में इनको उतरना होता है उसमें ये अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। और फिर विजय प्राप्त करने के लिए चाहे जितना बड़ा त्याग और बलिदान करना पड़े और चाहे जितने दिन तक लड़ाई जारी रखनी पड़े, ये तनिक भी नहीं हिचकते। इनकी मित्रता संसार की सबसे मूल्यवान् वस्तु हो सकती है।

ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि देश का उद्धार उस विराट् जन-समूह की मनोवृत्ति को उचित दिशा में परिवर्तित किये बिना असम्भव है। जो लोग पहले से जातीयतावादी हैं उनके विषय में चिन्ता करनी ही व्यर्थ है, पर जो अपढ़ लोग पथभ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें पहले रास्ते पर लाना है।

इन बातों को दृष्टि में रखते हुए, इस आन्दोलन को प्रारम्भ करते समय (सन् १९१९ ई०), हम लोगों ने कुछ अपने मुख्य कर्त्तव्य बना लिये थे। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। इनको अपना मार्ग-प्रदर्शक मानना हममें से प्रत्येक का मुख्य कर्त्तव्य था।

(१) जातीय जागरण के निमित्त विराट् जन-समूह को अपने पक्ष में करने के लिए हमें बड़े से बड़े बलिदान और स्वार्थ-त्याग के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। जाति और देश का हित सबसे पहले, उसके बाद और कुछ। इन हमारे घर के शत्रुओं की घातक नीति से प्रेरित होकर जर्मनी के श्रमिक-समुदाय ने अपने व्यक्तिगत लाभ को देश के हित से बड़ी चीज़ समझते हुए आम हड़ताल कर दी थी। और इसी हड़ताल के कारण जर्मनी महायुद्ध में हारा। इसलिए अब, सबसे पहले, जर्मनसमूह के मन में यह बात भली भाँति बैठा देनी थी कि जहाँ सारी

जाति के जीवन-मरण का प्रश्न है वहाँ उनकी निजी आर्थिक हानि कुछ महत्त्व नहीं रखती। उन्हें देश और जाति की मान-रक्षा के लिए मर मिटने और अपने सर्वस्व के बलिदान कर सकने योग्य बनाना था।

(२) जन-समूह को जातीयता की शिक्षा परोक्षरूप से ही दी जा सकती है, और ऐसा कर सकने के लिए पहले उनकी सामाजिक स्थिति में उचित सुधार करना होगा।

(३) समस्त जन-समूह में जातीयता का मंत्र फूंकना मामूली या अधकचरे उपायों से नहीं हो सकता। यहाँ 'विषस्य विषमौषधम्' वाली नीति से ही काम चल सकेगा। हमारा मतलब 'जातीयता' के उस अर्थ से नहीं है जो रईस लोग लगाते हैं। मैं स्वयं सिर से पैर तक 'जातीय' हूँ और 'जातीय' होना क्या अर्थ रखता है, इसे अच्छी तरह समझता हूँ।

जन-समूह में अपढ़ और अशिक्षित लोग ही अधिक होते हैं। ये बड़े भावुक होते हैं। इनमें तर्क और विचार का माद्दा नहीं होता। मनोवेग ही इनका सब कुछ है। ये किसी वस्तु को या तो श्रद्धा या आदर के योग्य समझ सकते हैं या घृणा के। इनमें दार्शनिक या 'डिप्लोमेंट' नहीं होते जो नीतिवश शत्रु से भी हँसते हुए हाथ मिला सकते हैं। इनके मनोभाव मौलिक और उत्तेजनापूर्ण पर सच्चे होते हैं। उन्हीं को अपने अनुकूल बनाना है। एक विष दूसरे विष से ही दूर हो सकता है। काँटा काँटे से ही निकलता है। जन-समूह में जो विचार घर कर गया है, उसे हटाने के लिए उससे प्रबल एक दूसरे विचार को प्रचलित करना पड़ेगा। मार्क्सवादी विचार-धारा के स्थान पर इससे ज़्यादा कारगर एक दूसरी विचार-धारा जनता में फैलानी है। और यह तभी सम्भव है जब ये अन्तर्राष्ट्रीय विष फैलानेवाले पूर्णतया नष्ट कर दिये जायँ।

(४) जर्मनों ने अपनी जाति के रक्त को शुद्ध रखने में बड़ी असावधानी की है। इस जाति की सारी बुराइयों की जड़ यही

है। यही उनकी अधोगति का मुख्य कारण थी। इसका प्रायश्चित्त सबसे पहले करना होगा, चाहे जिस उपाय से। इस अन्तर्जातीय धुन को दूर करने के लिए हमें बर्बरता और निर्दयता के उपायों से काम लेना पड़े तो भी हमें तनिक न हिचकना चाहिए। जो जाति अपने रक्त को शुद्ध नहीं रख सकती, उसका विनाश सुनिश्चित है।

(५) जो लोग इस बात का प्रचार करते हैं कि देश के बड़े व्यवसाय और उद्योग-धन्धे श्रमजीवीसमुदाय के रक्तशोषण से ही पुष्ट होते हैं वे परले सिरे के बेईमान और झूठे हैं। श्रमिकसमुदाय में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी कि पूँजीपतिसमुदाय का लाभ उनके रक्तशोषण से ही सम्भव है। उत्तम मार्ग वह है जिससे दोनों वर्गों की उन्नति हो। श्रमिकवर्ग की स्वार्थहानि से ही देश की व्यावसायिक उन्नति सम्भव हो, यह कोई ज़रूरी बात नहीं है। देश की सार्वजनिक उन्नति में सभी की स्थिति सुधरनी चाहिए। एकांगी उन्नति घातक है। और जो व्यवसायी अपनी एकांगी उन्नति की ओर ही ध्यान देता है वह देश का शत्रु है।

श्रमिकों के साथ ज़बानी सहानुभूति या उनके सुधार के सम्बन्ध की लम्बी-चौड़ी गप्पें हाँककर उन्हें बेवक़ूफ़ बनाना उनकी स्थिति का एक बड़ा निष्ठुर उपहास है। सबसे आवश्यक बात है उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में इतनी उन्नति कर देना कि मध्यवित्त के लोगों और इनमें ज्यादा अन्तर न रह जाय।

इसलिए इस आन्दोलन के सदस्यों में यथासम्भव श्रमिकसमुदाय के लोग ही पहले लिये जायँगे। शिक्षितसमाज से वे ही लोग लिये जा सकेंगे जो सचमुच जातीय भावना से प्रेरित हैं और हमारी विचारधारा के पूर्णतः अनुकूल हैं। यों तो कहने-सुनने में यह अच्छा जान पड़ता है कि बड़े आन्दोलनों में सभी वर्ग के लोग रहने चाहिएँ। पर मध्यवर्गवाले सम्पन्न लोगों को सम्मिलित करने से लाभ के बदले हमारे आन्दोलन में अड़चनें बहुत बढ़ जायँगी। दोनों वर्गों की सांस्कृ-

तिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में और तत्सम्बन्धी विचार-धाराओं में इतना बड़ा अन्तर है कि सबको सँभाले चलना कठिन हो जायगा।

(६) हमारे आन्दोलन का यह एकांगीपन हमारे प्रोपेगैंडा में स्पष्ट होता रहेगा। यदि प्रचार या प्रोपेगैंडा को सफल बनाना है तो हमें पहले से साफ़ कहना पड़ेगा कि यह आन्दोलन विराट् जन-समूह के लिए ही है।

अनुभव हमें बताता है कि एकांगी प्रचार को ही सफलता मिल सकती है। 'एकहि साधे सब सधै' वाली नीति ही प्रोपेगैंडा को सफल बना सकती है।

हमारे शत्रु मार्क्सवादी और सामाजिक जनसत्तावादियों ने प्रोपेगैंडा के इस मूल मंत्र को खूब समझा था। वे सदा पबलिक के इस विशेष वर्ग से ही सरोकार रखते थे और उनकी समझ में झट से आ जानेवाले छोटे-छोटे चुटकुलों से ही काम निकालते थे। प्रोपेगैंडा जिस वर्ग के लोगों के लिए किया जाय उसकी बौद्धिक स्थिति का पूरा अनुभव आन्दोलकों को होना चाहिए। खूराक उतनी ही देनी चाहिए जो आसानी से हज़म हो सके।

फिर इस प्रकार के आन्दोलन के लिए हमें ऐसे वक्ता चाहिएँ जो जनसमाज के हृदय को सीधे स्पर्श कर सकें। दार्शनिकों, विचारकों या विद्वानों की हमें ज़रूरत नहीं है।

आमतौर से 'युद्ध और प्रोपेगैंडा' वाले परिच्छेद में जो बातें मैं कह आया हूँ उन्हीं से हमें काम लेना है।

(७) कोई भी आन्दोलन केवल जनसमाज को अपनी विचार-धारा से प्रभावित करके ही सफल नहीं हो सकता। शासकवर्ग को प्रभावित कर सकने से भी काम नहीं बनता। सफलता तभी हो सकती है जब शक्ति अपने हाथ में आ जाय। जो कुछ हमारे विचार हैं उनको कार्यरूप में परिणत करने की पूरी शक्ति हममें होनी चाहिए। इस महान् सत्य

को भी हमको आरम्भ से ही समझ लेना था। हमें अपने आन्दोलन को 'डिबेटिंग क्लब' या वाद-विवाद की सभाओं में परिणत नहीं करना था। हमें काम करना था, और काम करने के लिए शक्ति चाहिए।

(८) यह आन्दोलन स्वभाव से ही पार्लमेंट का विरोधी है। इसकी आभ्यन्तरिक व्यवस्था ही ऐसी है कि इसकी कार्रवाई पार्लमेंट-विधि के बिलकुल प्रतिकूल हो। हमारे आन्दोलन की पूरी शक्ति और उसके फलाफल का समस्त उत्तरदायित्व एक व्यक्ति पर होगा। कार्य-विधि कुछ-कुछ इस ढंग की होगी—

प्रत्येक ज़िला, मंडल और प्रान्त का एक-एक अध्यक्ष होगा। इनकी नियुक्ति सीधे प्रधान-द्वारा होगी। प्रत्येक अध्यक्ष के मातहत एक-एक कमेटी होगी। इसका काम वोट देना नहीं बल्कि काम करना होगा। चुनाव केवल प्रधान का होगा। पार्टी के सदस्यों को ही चुनने का अधिकार होगा। फिर प्रधान की मातहती में सारे प्रेसिडेंट और सब समितियाँ काम करेंगी। सभी मामलों में उसी का निर्णय अन्तिम निर्णय माना जायगा। उसी के निर्णय के अनुसार सबको काम करना होगा। आन्दोलन के सदस्यों को अधिकार होगा कि वे किसी कार्य के परिणाम के लिए प्रधान से जवाब तलब कर सकें। यदि इसके कार्य देश के लिए अहितकारी सिद्ध हों, या इससे अधिक योग्य कोई व्यक्ति प्रधान के पद के उपयुक्त मिल रहा हो तो इसको पद-च्युत करके उस अधिक योग्य व्यक्ति को प्रधान चुनने का अधिकार भी सदस्यों को होगा।

आन्दोलन के प्रधान उद्देश्यों में से एक यह भी होगा कि उक्त सिद्धान्त को अपने दल के सिवा राष्ट्र के शासन में भी लागू करें।

जो व्यक्ति प्रधान होगा उसे सर्वोच्च और सीमारहित अधिकार दिये जायँगे, पर उसे सबसे बड़ा और शेष उत्तरदायित्व का भागी भी बनना पड़ेगा। जिस व्यक्ति में इस भयानक उत्तरदायित्व को वहन करने का साहस और शक्ति नहीं है वह प्रधान होने योग्य नहीं समझा जायगा।

मानव की उन्नति और मानवता का निर्माण जन-समूह-द्वारा कहीं नहीं हुआ। इसका श्रेय सदा किसी असाधारण प्रतिभावान् व्यक्ति को ही मिला है।

उक्त सिद्धान्तों के कारण हमारा आन्दोलन पार्लमेंट-विरोधी होने को बाध्य है। और यदि यह पार्लमेंट की कार्रवाई में भाग लेगा भी तो उसे भीतर से विनष्ट कर देने के अभिप्राय से ही। हमें ऐसी संस्था का अन्त कर देना होगा जो मानवता के घोर अधःपतन का कारण हुई है।

(९) जिन प्रश्नों से फ़िलहाल हमको प्रयोजन नहीं है, उनसे हमारा आन्दोलन सदा दूर रहेगा। धार्मिक क्रान्ति या उलट-फेर इसका उद्देश्य नहीं। यह केवल राजनीति से सम्बन्ध रक्खेगा।

फिर किसी विशेष प्रकार की शासनपद्धति को नष्ट करना या किसी विशेष पद्धति को प्रचलित करना हमारे आन्दोलन का लक्ष्य नहीं। इसका उद्देश्य है उन सिद्धान्तों को कार्यकारी बनाना जिनके बिना राजतंत्र, प्रजातंत्र या कोई भी तंत्र दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रह सकता।

( १० ) इस आन्दोलन की आन्तरिक व्यवस्था ऐसी होगी जिससे 'काम' जल्दी हो सके। बीच की कार्रवाई या विधि-विधानों के माया-जाल में प्रायः बड़ी-बड़ी योजनायें सालों सड़ा करती हैं, और जब वे अन्त में सर्वसम्मति से 'पास' होती हैं तब उनका मौक़ा निकल जाता है। योजनाओं को तुरन्त कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति नेता में होनी चाहिए, नहीं तो कुछ काम नहीं हो सकेगा। मान लीजिए कोई अच्छी स्कीम नेता के दिमाग़ से निकली। अब सबसे पहले वह सारी दुनिया को इसको समझाये, फिर सबकी सम्मति प्राप्त करे; और जन्म भर यही किया करे तो बस काम हो चुका! जैसे लोगों को अपनी योजना समझाने पर नेता को बाध्य होना पड़ता है उनमें से अधिकांश ऐसे वज्रमूर्ख होते हैं कि सारी उम्र उन्हें समझाते रहिए पर वे कभी नहीं समझने के। फिर नेता अपनी स्कीम के रहस्य का ढिंढोरा पीटने पर क्यों बाध्य किया जाय?

इन बातों के अनन्तर एक बात और ध्यान देने की है। जिस स्थान पर इस आन्दोलन का विचार पहले-पहल उठे उस स्थान को बड़ा महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। इसी दृष्टि से इसका केन्द्र पहले म्यूनिच माना गया था। और यह भी तय हुआ कि इस शहर में आन्दोलन की नींव जब तक पूरी न जम जाय तब तक अन्यत्र इसकी सहायक शाखायें न स्थापित की जायँ। ज़िला, मंडल और प्रान्तीय दल तब तक न बनें जब तक उनकी पूरी आवश्यकता न सिद्ध हो। फिर सहायक दलों की स्थापना तभी हो सकती है जब उनके उपयुक्त नेता मिल सकें।

नेता बनाने के लिए हमें कुछ उपयुक्त और बुद्धिमान् लोगों को आवश्यक शिक्षा देनी होगी। पर इन सब कामों के लिए धन की बड़ी आवश्यकता है। यह मानी हुई बात थी कि आरम्भ में चन्दे का सहारा लेना पड़ेगा। क्योंकि नेताओं को वेतन भी तो देना पड़ेगा। नेताओं के चुनाव में और उनकी योग्यता के सम्बन्ध में सबसे ज़्यादा ध्यान रखना होगा उनके साहस, कर्मठता और अध्यवसाय के ऊपर। हमारे आन्दोलन से सबसे अधिक प्रेम और सहानुभूति जिसे होगी वही उपयुक्त नेता हो सकेगा। प्रधान की राय लेना तथा आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्तों से उसका सहमत होना अनिवार्य होगा। ऐसे नेता कम मिलेंगे पर जब तक ऐसे न मिल सकें तब तक किसी नई शाखा का स्थापित न करना ही अच्छा होगा।

( ११ ) कोई भी आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब उसके सिद्धान्तों की रक्षा के लिए उसके अनुयायी अन्त तक लड़ने और साथ देने के लिए प्रस्तुत हों। उनको अपने आन्दोलन से इतना प्रेम होना चाहिए कि किसी दूसरे आन्दोलन का अस्तित्व वे सहन ही न कर सकें। उनको अपने आन्दोलन की सत्यता और न्यायपूर्णता में इतना दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि मरते दम तक वे इससे विमुख न हो सकें। जिनको अपने आन्दोलन में इतना कट्टर विश्वास होगा वे ही प्रतिद्वन्द्वी आन्दोलनों से इसकी रक्षा कर सकेंगे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि देश के अन्य विविध आन्दोलनों को इसमें मिला लेना या इसके अन्तर्गत कर लेना इसके बल में वृद्धि करेगा। पर मेरी राय इसके विपरीत है। वास्तव में होता यह है कि किन्हीं बाहरी तत्त्वों के इसमें प्रवेश हो जाने से गड़बड़ी पैदा होती है और आन्दोलन निर्बल हो जाता है। कुछ लोगों की राय में अपने से मिलते-जुलते आन्दोलनों को इसके अन्तर्गत कर लेना इसकी पुष्टि में सहायक होगा। पर मैं फिर भी कहूँगा कि ऐसा करने से सिवा गड़बड़ी और विशृङ्खला के कोई लाभ नहीं है।

( १२ ) इस आन्दोलन में अपने अनुयायियों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि संघर्ष या युद्ध एक वांछनीय वस्तु है। लड़ाई से बचने और संघर्ष से भागनेवाली नीति कायरों की है। हमें अपने विरोधियों से कठोर संघर्ष करना होगा।

यहूदी प्रेस जिस व्यक्ति को गाली नहीं देता और कोसता नहीं, वह जर्मन नहीं। हमारे अनुयायी और जर्मनी के बच्चे-बच्चे के दिल में यह बात जमा देनी होगी कि झूठ का प्रचार ही यहूदी का एकमात्र व्यवसाय है। बारम्बार हमें अपने लोगों को इस महान् सत्य से परिचित कराते रहना होगा। यहूदी झूठों का बादशाह है। वह जिसको जी भरकर कोसे और रोज़ चार गालियाँ सुनाये वह हमारा सबसे प्यारा बन्धु है। यह भली भाँति समझ लेना होगा कि यहूदी समस्त आर्य-जाति और समूची आर्य-संस्कृति का जानी दुश्मन है और हमारे आन्दोलन का उत्कट विरोध करना यह अपना पहला कर्त्तव्य समझेगा। हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

( १३ ) प्रधान के व्यक्तित्व के प्रति आदर-भाव की शिक्षा देने में यह आन्दोलन अपनी पूरी शक्ति लगा देगा। जिसके अनुयायियों में व्यक्तित्व के प्रति हद दर्जे का प्रेम और आदर-भाव नहीं है वह कभी कोई काम नहीं कर सकता। संसार के बड़े से बड़े काम, बड़ी से बड़ी क्रान्तियाँ और बड़े से बड़े सुधार किसी एक राजनीतिज्ञ की प्रतिभा

और शक्ति के बल पर हुए हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति जिस आन्दोलन के समर्थकों में पूर्ण आस्था और प्रेम-भाव नहीं है उसकी सफलता की कोई आशा नहीं की जा सकती।

यहूदी इस महान् सत्य को खूब समझता है। उसके अपने महा-पुरुष, जिनके तथाकथित महान् कृत्य मनुष्य-जाति की अधोगति के ही कारण हो सके हैं, देवताओं की भाँति पूज्य होते हैं। पर जब कोई जर्मन अपनी जाति के महान् पुरुषों या देवियों का आदर करता है तो वे निन्दा करते हैं। तब इसी आदर-भाव को वह 'व्यक्ति की पूजा' कहकर धिक्कारने लगता है।

इस आन्दोलन के आरम्भ में हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि हमको कोई जानता नहीं था। हम लोग कुल सात सदस्य थे और इनमें से एक भी ऐसा नहीं था जिसका कुछ नाम हो। हम लोगों की बैठकों में कभी चार, कभी छः या बहुत हुआ तो आठ आदमी सम्मिलित होते थे। उस समय हम अपनी सारी शक्ति सदस्यों को यह समझाने में लगाते थे कि हमारे इस आन्दोलन का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। अच्छा हुआ कि आरम्भ में इसकी सदस्य-संख्या नहीं के बराबर थी। क्योंकि पहले ही से बहुत आदमी हो जाने से सभी अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाने लग जाते हैं और कोई कार्यक्रम नहीं बन पाता। पर इस 'अल्पारम्भ' में हमारी सम्भावनायें आशातीत हो सकती हैं। अपने इच्छानुसार इस आन्दोलन की गति-विधि इसी रूप में ही निर्धारित की जा सकती है। अपने सिद्धान्तों के अनुसार आन्दोलन के भविष्य की रूप-रेखा जितनी स्पष्टता के साथ इस स्थिति में तैयार की जा सकती है वैसी अन्य स्थिति में असम्भव है।

पर जो कुछ भी हो, इस समय यह बात कल्पनातीत जान पड़ती है कि छः-सात अभागों ने मिलकर जर्मन-राष्ट्र के पुनर्निर्माण का बीड़ा उठाया और इतने बड़े आन्दोलन की नींव डाली। पर हुआ वास्तव में ऐसा ही।

सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ी कि हम लोगों की बात पर कोई ध्यान ही न देता था। न तो पबलिक में हममें से किसी की कोई ख्याति थी और न विज्ञापन करने के लिए हमारे पास पैसे थे। हम बड़े खुश होते यदि किसी बैठक में हम लोगों की किसी से मारपीट हो जाती और मामला अदालत तक पहुँचता। इस तरह चार आदमी हमारा मनसूबा तो जान जाते। पर इस लायक़ भी हम नहीं समझे जाते थे।

जब मैं पहले इन पाँच या छः अभागों के दल में पहुँचा तब किसी पार्टी या आन्दोलन की चर्चा तक नहीं थी। इनको अपनी स्थिति से भयानक असंतोष भर था। न कोई कार्यक्रम सोचा गया था, न कोई योजना ही इनके मन में थी। कुछ भी नहीं था। न कुछ कर सकने का साधन ही था। सिर्फ़ इतना था कि किसी बात के लिए ये संघर्ष करना चाहते थे।

ख़ैर, हमने पहले यह ढंग निकाला। हम सातों अपनी छोटी-सी मित्रमंडली में अपने विचार जा-जाकर प्रकट कर आते थे। और उन मित्रों या जान-पहचानवालों से कह आते थे कि इन बातों की चर्चा अपने मुलाक़ातियों से करें और बैठक के दिन उनको पकड़कर ले आवें। महीने में एक बार बैठक करने का निश्चय हुआ। निमंत्रणपत्र हम लोग अपने हाथों से लिखकर बाँट आते थे। टाइप कराने तक की सुविधा नहीं थी। कभी-कभी किसी मुलाक़ाती टाइप-राइटरवाले के यहाँ बैठकर कुछ पत्र छपवा लेते थे। पर इसका फल कुछ न होता था। हम लोगों का जी अकसर बैठ जाता।

मुझे ख़ूब याद है, एक बार मैंने अस्सी निमंत्रण-पत्र अपने हाथों बाँटे, पर कोई नहीं आया। वही सात के सात!

तब हमने अपना ढंग बदला। म्यूनिच के एक स्टेशनर की दूकान पर बैठकर रोनियो मशीन से बहुत-से निमंत्रण-पत्रों की नक़ल करवा ली और उनको बँटवा दिया। कुछ और लोग आये। पहले सात से ग्यारह हुए, फिर तेरह। अन्त में संख्या चौंतीस तक पहुँची।

फिर हमने अपने पास से कुछ पैसे लगाकर 'म्यूनिच आब्ज़र्वर' नामक पत्र में एक विज्ञापन छपवाया और सभा के लिए एक बड़ा-सा हॉल ठीक किया। पर हमें भय हो रहा था कि यदि कोई न आया तो बड़ी भद्द होगी।

पर सात बजे तक एक सौ ग्यारह आदमी पहुँच गये। म्यूनिच के एक प्रोफ़ेसर ने मुख्य भाषण दिया। उनके बाद मैं बोला। उस समय हर हेरार हमारी पार्टी के प्रधान थे। वे बहुत अच्छे आदमी थे। पर न जाने क्यों उन्हें यह विश्वास-सा हो गया था कि मैं पबलिक में बोल नहीं सकता। इसके बहुत दिन बाद तक वे अपनी यह धारणा बदल नहीं सके थे। पर वे भ्रम में थे। मुझे बीस मिनट बोलने का समय दिया गया था पर मैं आधे घंटे तक बोला। इसको एक तरह से हम अपनी पहली सार्वजनिक सभा कह सकते हैं। मुझे अपनी भाषण-शक्ति को आज़माने का यह पहला अवसर मिला था। पर मुझे अब विश्वास हो गया कि मैं बोल सकता हूँ। वक्तृता के अन्त में यह स्पष्ट हो गया कि मैं सबको प्रभावित कर सका था।

अब यह निश्चय हो गया कि हमारी पहली सभा सफल हुई। इसके बाद हमने सदस्य-संख्या बढ़ानी शुरू की। युद्धकाल में मेरे बहुत-से साथी हो गये थे जिनके कन्धे से कन्धा सटाकर हम लोगों ने लाम पर शत्रु से लोहा लिया था। फ़ुरसत के वक़्त में इनसे बराबर अपने विचार प्रकट किया करता था। अब इनको खोज-खोजकर मैंने अपने दल में मिलाना शुरू किया।

हर हेरार यद्यपि बड़े योग्य आदमी थे, पर उनमें खास कमी यह थी कि वे बोलना नहीं जानते थे। वे लेखक और पत्रकार थे। और उन्हें युद्ध-स्थल में जाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। कुछ दिन बाद वे अपनी इच्छा से ही प्रधान के पद से अलग हो गये।

उस समय हमारा यह काम सचमुच बड़े साहस का था। उन दिनों पबलिक मीटिंग करना कोई आसान बात नहीं थी। पुलिस के इंडों

का भय चारों ओर था। अकसर मीटिंगों में जानेवाले अपनी खोपड़ियाँ रँगवाकर लौटते थे। अपने को 'जातीय' कहनेवालों के लिए और भी ख़तरा था।

पर हम इन बातों के लिए पहले से तैयार थे। मेरा व्यक्तिगत मत यह था कि भय और आतंक से भागना भारी भूल है। इसका डटकर मुक़ाबिला करना चाहिए। डंडे का जवाब डंडा है। मानसिक शक्ति और लिखा-पढ़ी से दमन का प्रतिकार नहीं होता। दमन और अत्याचार उन्हीं के शस्त्रों से लड़े जा सकते हैं।

इसके बाद उत्तरोत्तर हमारी बैठकों में दर्शकों की संख्या बढ़ने लगी। सभा में उपद्रवकारी भी आने लगे थे। ये लोग हमको बोलने नहीं देते थे और सभा में हुल्लड़बाज़ी करने को गुट्ट बनाकर आते थे। इनको चुप करने के लिए हमने भी एक गुट्ट बनाया। हमारी संस्था में बड़ी संख्या श्रमिकों या लड़ाई से लौटे हुए सैनिकों की थी। इनका काम था हुल्लड़बाज़ों की चटपट मरम्मत कर देना और उनको ठोकरें मारकर हॉल से बाहर कर देना।

अब अख़बारों में हमारी आलोचना शुरू हुई। यहूदी प्रेस हमारा जानी दुश्मन बन बैठा। हम लोगों ने अपना नाम 'दि नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी' (जातीय सामाजिक जर्मन-मज़दूर-दल) रक्खा था। हमारे कुछ सदस्य 'पार्टी' नाम रखने में आपत्ति करते थे। पर मैंने उनको इस नाम की आवश्यकता को समझा दिया। डर और कायरता के लिए हमारे दल में स्थान न था। उन दिनों 'पार्टी' नाम ही पुलिस का त्रास बुलाने के लिए पर्याप्त था। पर सौभाग्य से म्यूनिच के तत्कालीन पुलिस के सबसे बड़े अफ़सर 'जातीय' मनोवृत्ति के थे। ये कुछ थोड़े-से ऐसे अधिकारियों में से थे जो जाति और देश के हित को अपनी जीविका से अधिक महत्त्व देते हैं। इनसे हमको बड़ी सहायता मिली।

अब हम लोग अन्य पार्टियों की बैठकों में जाने लगे और उनके वक्ताओं के भाषणों में शंकायें कर अपने मत का प्रचार करने लगे।

फिर हमने सड़कों पर और दीवालों पर बड़े-बड़े विज्ञापन चिपकाकर अपना प्रोपेगैंडा शुरू किया। इस कला का मुझे काफ़ी अनुभव था। मैंने 'लाल' रंग अपनी पार्टी का चिह्न चुना। अपने सिद्धान्तों के अनुसार यही रंग हमें ठीक जँचा। सब विज्ञापनों आदि में यही रंग काम में लाया जाता था।

सन् १९२० की २४ फ़रवरी को हमने अपनी पार्टी की एक विराट् सभा करने का निश्चय किया। हज़ारों की संख्या में विज्ञापन बँटे। इनमें कुछ थोड़े-से शब्दों में ऐसी बातें छपी थीं जो जन-समूह पर तुरन्त चोट करें।

इस बैठक में हमें आशातीत सफलता मिली। एक बहुत बड़ा हॉल हमने ठीक किया था। वह ठसाठस भर गया। क़रीब २,००० से ऊपर आदमी इकट्ठे थे। मैं जब बोलने को उठा तो कुछ लोगों ने टोकना और हुल्लड़ मचाना शुरू किया। पर मेरे युद्ध-स्थल के कुछ साथी इनसे गुँथ गये और फिर शान्ति स्थापित हो गई। मैंने सभा के सामने अपनी २५ शर्तें नम्बरवार रक्खीं। एक के बाद एक वे सब स्वीकृत होती चली गईं। भाषण समाप्त करने के बाद मैंने देखा कि जनता ने मेरी सब बातें मान ली हैं। मेरे संतोष का ठिकाना न था।

मुझे अब निश्चय हो गया कि अब मैं ता० ९ नवम्बर, १९१८ वाले विश्वासघात का प्रतिशोध ले सकूँगा। पूरे चार घंटे यह सभा हुई। धीरे-धीरे हॉल ख़ाली हुआ।

हमारा आन्दोलन अब चल पड़ा था।

---

# द्वितीय भाग

## जातीय सामाजिक आन्दोलन

## ( दि नेशनल सोशलिस्ट मूवमेंट )

## पहला परिच्छेद

### हमारी पार्टी और उसका दृष्टिकोण

२४ फ़रवरी सन् १९२० में हमारे आंदोलन की पहली विराट् सभा म्यूनिच के एक विशाल सभाभवन में अपूर्व सफलता के साथ हुई। इसमें हमने अपने कार्यक्रम की पचीस मुख्य बातें जनता के सम्मुख रक्खीं और वे सबकी सब सर्वसम्मति से स्वीकृत हुईं। मुझे उस समय यह विश्वास-सा हो गया कि अब हम मार्क्सवाद के फैलते हुए विष को रोक सकेंगे।

पर इसकी सफलता के लिए एक बात आवश्यक थी। आरम्भ से ही हमारे अनुयायियों को यह बात समझा देनी थी कि हमारे आंदोलन का लक्ष्य राजनीति के मैदान में चुनाव जीतने के लिए कोई नया हथकंडा निकालना या कोई नई बोली बोलना नहीं है। विश्व के प्रति एक नया दृष्टिकोण ('वेल्टेनशांग') जाग्रत करना और जनता में उसके आदर्शों को भर देना हमारा पहला और सर्वप्रधान उद्देश्य था।

उन दिनों पार्लमेंट की शासन-विधि बड़ी शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गई थी। ये लोग सिर्फ़ हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते थे। चुनाव के समय ये भोली जनता को बड़े-बड़े प्रलोभन देते थे। चुनाव का समय निकट आने पर पार्लमेंटवाले पुराने कार्यक्रम को दुहराने

के लिए नई-नई कमिटियाँ बनाते थे। जनता की सारी पिछली शिकायतों को दूर करने का वचन दिया जाता था। ऐसा जान पड़ता था कि इनके जाते ही मानो राम-राज्य हो जायगा। किसी भी विभाग में प्रजा को कोई शिकायत न रह जायगी।

पर जैसे ही ये मंत्रिमंडल में घुसे कि अपने सब वादे भूल जाते थे। सदस्यों का बस यही एक काम रह जाता था कि वे पार्लमेंट के भवन में जाकर अपने हस्ताक्षर कर आयें। फिर वे कमिटियाँ आदि भी रद हो जाती थीं और कोई कार्यक्रम ही नहीं रह जाता था।

इस तरह जब चार साल बीत जाते और अगले चुनाव का समय निकट आने लगता तब एक बार फिर ये करवट बदलते। इनको सबसे बड़ी चिन्ता यही रहती थी कि कहीं ऐसा न हो कि पबलिक हाथ से निकल जाय और हमें अगले चुनाव में काफ़ी वोट न मिलें। एक बार फिर सुधार-समितियाँ स्थापित होतीं और प्रेस तथा सार्वजनिक सभाओं में लम्बे-चौड़े व्याख्यान दिये जाते। इनका यही रोना था कि कुछ 'आवश्यक' कार्यों की वजह से हम पबलिक की वैसी सेवा नहीं कर सके जैसी कि हमने आशा की थी। पर उन 'ज़रूरी झगड़ों' से अब हम निपट चुके हैं और अब हमें सिर्फ़ पबलिक की सेवा ही करनी है। इस तरह बारम्बार ये लोग जनता को धोखा दे-देकर पार्लमेंट में घुसते हैं। पर अन्त में वह दिन भी आता है कि भोली जनता भी इनकी धूर्तता और विश्वासघात को कुछ-कुछ समझने लगती है और खुले आम सार्वजनिक सभाओं में इन देश के तथाकथित 'कर्णधारों' के विरुद्ध प्रदर्शन करती है। छल और प्रतारणा के दिन लद जाते हैं और आम सड़कों पर इनका अपमान होने लगता है।

इन जनता के 'नेताओं' की धूर्तता को बराबर देखते चलना हमारे लिए असह्य हो उठा। ये इतने अकर्मण्य और निर्लज्ज थे कि अपनी सारी चालाकी निरीह प्रजा को धोखा देने में ही लगा देते थे। यों ये मूर्ख इतने थे कि सोशल डेमोक्रेसी के नाम पर मार्क्सवादी जो गहरी

चाल चल रहे थे उसको समझ तक नहीं पा रहे थे, या समझकर भी टालते जा रहे थे। ये समझते थे कि जनता का बहुमत हमारे पक्ष में है ही, फिर चिन्ता किस बात की। इनकी अदूरदर्शिता इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि ये इतना भी नहीं समझ पाते थे कि पाश्चात्य डेमोक्रेसी को अपना हथकंडा बनाकर ये मार्क्सवादी धीरे-धीरे सारी राजनीतिक शक्ति अपने हाथ में कर रहे हैं और डेमोक्रेसी या लोकसत्ता के सिद्धान्तों से अपने विरोधियों का अस्तित्व ही मिटा देने का काम ले रहे हैं। पर हमारे पार्लमेंटवालों को तो सिर्फ़ वोट और अपनी 'सीट' की चिन्ता थी। देश और जाति जाय चूल्हे में, इनकी इससे व्यक्तिगत कोई हानि तो होती नहीं जब तक ये अपनी जगहों पर डटे हैं।

पर मैं इनको बतला देना चाहता था कि एक दिन ऐसा आनेवाला है जब कि जनमत जाग्रत् होगा। जनता को अपने वास्तविक हित-अहित का ज्ञान होगा। और इसी जनता के बहुमत से एक सम्मिलित विचार-धारा प्रकट होगी जो मार्क्सवादी धूर्तता और उनकी सोशल डेमोक्रेसी के अन्त का कारण होगी।

और अपने पार्लमेंटी भाइयों से हम यह कह देना चाहते थे कि हमें तुम्हारा पाप और कलंक धोना है। जो कुछ तुम्हारा कर्त्तव्य था, और जिसे तुम आज तक टालते आये, जिसे तुम्हें अपने चुनाव जीतने की धुन में कभी करने की फ़ुरसत न मिली उसे हम कर दिखाने की चेष्टा कर रहे हैं। तुम्हारी मूर्खता और असावधानी से ही देश और जाति सर्वनाश के पथ पर है। हम वह नया आदर्श उपस्थित कर रहे हैं जिससे देश का बच्चा-बच्चा प्रभावित होगा। इस आदर्श की रक्षा के लिए हम अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा देंगे। इस प्रकार हम अपनी जाति की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

इन्हीं कारणों से हमें पहले बड़ी सतर्कता की आवश्यकता थी कि कहीं यह हमारा नया आदर्श और दृष्टिकोण, पार्लमेंटवालों के लिए वोट जितवाने के काम में न लाया जाय। जनता को पहले ही यह बता देना

था कि पार्लमेंट के इन निकम्मे और धूर्त मेम्बरों की घातक नीति के कारण ही तुम्हारी यह दशा हुई है।

'राष्ट्र' का अर्थ हम और ही कुछ लगाते हैं। 'राष्ट्र' और 'लोक' या 'जन-समाज' का यह नया अर्थ पब्लिक को पहले समझाना था। पाश्चात्य डेमोक्रेसी और मार्क्सवादी विचार-धारा के अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्य के नाम पर जो देश के विभिन्न वर्गों को एक दूसरे का द्रोही बनाकर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे, उसके रहस्य का भंडाफोड़ करना था।

सबसे पहले यहाँ मैं बताने की चेष्टा करूँगा कि 'वोकिश' (या 'लोक' या 'प्रजा') से मैं क्या समझता हूँ। बहुत-से शब्द ऐसे होते हैं जिनका यों कोई खास अर्थ नहीं होता। सन्दर्भ के अनुसार उनके अलग-अलग अर्थ भी हो सकते हैं। फिर उनका अर्थ इतना व्यापक होता है कि कम से कम अपढ़ जनता के मन में उन शब्दों से कोई स्पष्ट भाव नहीं पैदा होता।

उदाहरणार्थ जैसे 'धार्मिक' शब्द है। हो सकता है कि इस शब्द का कोई एक स्पष्ट अर्थ विद्वानों या दार्शनिकों के मन में हो। पर यों 'धार्मिक' माने सभी कुछ या कुछ नहीं। पर हमें आवश्यकता है स्पष्ट अर्थ की। 'प्रजा' या 'लोग' या 'लोक' से स्पष्टतया क्या तात्पर्य होना चाहिए, इसे हम पहले हल कर लेना चाहते हैं।

आजकल 'राष्ट्र' के जीवन में जाति या नस्ल को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। सभी जगह लोगों में ऐसी धारणा हो गई है कि सभी आदमी बराबर हैं। कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त ही इसी नींव पर खड़ा किया गया था। पर वास्तव में इस तरह की विचार-धारा तो और पहले से प्रचलित हो रही थी। कार्ल मार्क्स ने सिर्फ़ यह किया कि इस विचारधारा में अपने मतलब की बातों को इकट्ठा करके इसको अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व का रूप देकर संसार के सम्मुख रक्खा। पर उसका भीतरी अभिप्राय था इस सिद्धांत का प्रचार करके वर्गवाद या श्रेणी-

कलह की सृष्टि करना और सबको एक-दूसरे से लड़वाकर यहूदियों को सबके ऊपर स्थापित करना।

मध्यवर्ग के लोग मार्क्सवादी सिद्धान्त में सिर से पैर तक डूब चुके हैं और उनकी धारणा है कि संसार का प्रभुत्व इसी वर्ग-द्वारा हो सकता है। उन्हें यह पता नहीं कि वे इस धोखे की टट्टी में सोते रहेंगे और एक दिन उन्हें यहूदियों का ग़ुलाम हो जाना पड़ेगा।

इस सिद्धान्त के प्रतिकूल हमारे जातीय सिद्धान्त में जाति या नस्ल को मानवता के संसार में सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। जो सर्वश्रेष्ठ जाति है उसी का प्रभुत्व सबके ऊपर हो सकता है। प्रकृति हमको यही शिक्षा देती है। हमारा सिद्धान्त यह नहीं स्वीकार करता कि सब आदमी या सभी जातियाँ बराबर हैं। संस्कृति या सभ्यता के अनुसार कुछ जातियों का पद औरों से ऊँचा रहा है। यही प्रकृति का और मानवता का सनातन नियम है। हमारा सिद्धान्त यही कहता है कि कुछ विशेष आदर्शों के बिना मनुष्यता का अस्तित्व ही नही रह सकता। पर मानवता के श्रेष्ठ आदर्श सब जातियों के लोगों में नहीं होते। जिस जाति ने उच्चतम आदर्शों को सबसे पहले अपनी करनी द्वारा विश्व की अन्य जातियों के समक्ष रक्खा, उसी का स्थान सर्वोपरि है। जिस जाति ने सबसे पहले सभ्यता और संस्कृति की नींव रक्खी उसकी श्रेष्ठता निम्नतर जातियों को स्वीकार करनी ही पड़ेगी। पर इस विषैली मार्क्सवादी विचार-धारा के घातक प्रचार से श्रेष्ठ जाति का विनाश ही संभव है और इसी उद्देश्य से इसका प्रचार किया गया है।

हमें इसी सिद्धान्त का मूलोच्छेद करना है। इस पृथ्वी पर आर्य-जाति के अस्तित्व पर ही सभ्यता और संस्कृति निर्भर करती है। जिस दिन यह जाति अपनी मौलिक श्रेष्ठता की रक्षा करने से उदासीन हो जायगी, उस दिन संसार के सभी श्रेष्ठ आदर्शों का लोप होना निश्चित है। ईश्वर की सबसे सुन्दर रचना हम इस जाति के लोगों में पाते हैं।

इसलिए हमें 'लोक' या 'जाति' ('वोकिश') सम्बन्धी एक ऐसे दृष्टिकोण ('वेल्टनशांग') को जनता में प्रचलित करने की आवश्यकता है जो मार्क्सवाद की घातक अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा को कुचल दे।

और जर्मन नेशनल सोशलिस्ट लेबर पार्टी का यही उद्देश्य है।

विश्व के प्रति हमारा यह नया दृष्टिकोण और लोकवाद का हमारा नया सिद्धान्त जो आर्यजाति की सर्वश्रेष्ठता का पक्षपाती है, तभी सफल हो सकते हैं जब हमारे दल का बच्चा-बच्चा इनकी सत्यता का क़ायल हो और इसकी रक्षा के लिए अपने सर्वस्व की आहुति देने को तैयार हो। हमें अपने दल का संगठन इसी दृष्टि से करना है।

———

# दूसरा परिच्छेद

## राष्ट्र

सन् १९२०-२१ के बीच में हमारे दल के विरोधी भी बड़ी संख्या में हो चले थे। विशेषकर उच्च-मध्य श्रेणी के लोग हमारे आन्दोलन को 'अराष्ट्रीय' कहने लगे थे। पर सच बात यह थी कि 'राष्ट्र' किसको कहते हैं इसका इनको पता तक नहीं था। यदि इनसे पूछा जाता तो राष्ट्र की कोई स्पष्ट परिभाषा ये लोग नहीं दे सकते थे।

उन दिनों राजनीतिक दलों में राष्ट्र की तीन परिभाषायें प्रचलित थीं।

(१) एक तो ऐसी विचार-धारा के लोग हैं जिनके अनुसार राष्ट्र ऐसे लोगों की एक संस्था-विशेष है जो राष्ट्र के सब क़ानूनों और विधानों को मानकर चलना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। राष्ट्र मानो एक शासन करनेवाली संस्था है और उसके क़ानूनों को भंग न करना ही उस राष्ट्र के सब अधिवासियों का धर्म है।

राष्ट्र का यही अर्थ लगानेवालों की संख्या सबसे बड़ी है। इस अर्थ के अनुसार राष्ट्र के संचालन में प्रजा की इच्छा का कोई स्थान नहीं होता।

राष्ट्र के इस अर्थ में कारण ही को कार्य मान लिया गया है। उपाय ही यहाँ लक्ष्य बन गया है। इसके अनुसार राष्ट्र का अस्तित्व मनुष्य-जाति की सेवा के लिए नहीं बल्कि मनुष्य का ही अस्तित्व मानो राष्ट्र की सेवा के लिए हुआ है। राष्ट्र के मामूली से मामूली कर्मचारी का हुक्म बजा लाने के लिए ही मानो मनुष्य की उत्पत्ति हुई है।

उन दिनों बवेरिया में यही हाल था। वहाँ की 'बवेरियन पापुलिस्ट पार्टी' के अनुसार आदर्श राष्ट्र ऐसा ही होना चाहिए।

(२) एक दूसरे मत के अनुसार राष्ट्र का अस्तित्व कुछ शर्तों के पूरी करने पर निर्भर रहता है। नागरिकों की आर्थिक स्थिति को ठीक

रखने की गारंटी लेना राष्ट्र का पहला धर्म है। इसके अनुसार राष्ट्र के शासन में एकरूपता और एक सर्वसम्मत भाषा का प्रयोग होना बहुत ज़रूरी है। ये लोग 'स्वतत्रता' को भी राष्ट्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक कहते हैं। पर इस शब्द का ठीक अर्थ ही ये नही समझते। वास्तव में राष्ट्र का यह अर्थ जर्मनी के मध्यवर्ग और नरम दल के डेमोक्रेट लोग लगाते हैं। इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है।

(३) एक तीसरे दल के अनुसार राष्ट्र मे शासन-शक्ति उन लोगों के हाथ में होनी चाहिए जो एक ढंग के हैं और समान भाषा बोलते है। ऐसे लोगों की संख्या सबसे कम है। पर ये लोग यह भूल जाते है कि जाति या प्रजा में एकता भाषा की बदौलत नहीं बल्कि रक्त की एकता के कारण ही सम्भव है। मान लीजिए कि विभिन्न जातियों के कुछ लोग किसी राष्ट्र के अन्दर समान भाषा का व्यवहार करने लगें तो इससे क्या सच्ची एकरूपता पैदा हो सकती है? एक जाति की भाषा जब दूसरी जाति अपनाती है तो इससे वह उसका रक्त तो अपनाती नहीं। नस्ल तो वही रहेगी। इसके साथ ही उनके सस्कार और सस्कृति आदि की विभिन्नता भी रहेगी। इन बातों में परिवर्तन तो रक्त के सम्मिश्रण से ही सम्भव है। पर रक्त के सम्मिश्रण से एक दूसरी भयानक हानि निश्चित है। उच्चतर जाति जब अपना रक्त निम्नतर जाति से मिलाने लगेगी और इसके फलस्वरूप जो वर्णसंकर प्रजा होगी वह क्या शारीरिक क्या मानसिक, किसी भी शक्ति मे उस मौलिक उच्च जाति के समान न हो सकेगी। और ज्यों-ज्यों यह सम्मिश्रण बढ़ता जायगा, पीढ़ी दर पीढ़ी उस मौलिक जाति की सब विशेषतायें लुप्त होती चली जायँगी। इस प्रकार इस तथाकथित 'जर्मनीकरण' से सबसे बड़ी हानि जर्मन-जाति की ही है। यह अच्छा ही हुआ कि जोसेफ द्वितीय की योजना के अनुसार आस्ट्रिया का जर्मनीकरण नही हो सका। उन्होंने आस्ट्रियावालों को जर्मन-भाषा अपनाने और सब प्रकार जर्मनों मे मिल जाने की योजना निकाली थी। इस प्रकार पोलेंडवासियों से भी

जर्मन भाषा बुलवाकर यह आशा की गई थी कि ये भी 'जर्मन' हो जायेंगे। इन उपायों से कुछ शताब्दियों बाद इस सम्मिलित प्रजा में एक प्रकार का भ्रातृभाव तो स्थापित हो सकता था, पर ये सब 'भाई' अपने मौलिक पूर्वजों के गुणों और विशेषताओं से रहित होते।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि यहाँ के यहूदी अमेरिका जाने पर सिर्फ़ इसलिए 'जर्मन' क़रार दिये जाते हैं कि वे जर्मन-भाषा बोलते हैं। यह जर्मन-जाति के लिए घोर अपमानजनक है।

लोग इस बात को भूल जाते हैं कि मौलिक संस्कृति, सभ्यता और उच्च आदर्शों के सृजन करने की शक्ति उच्चतम जाति और विशुद्ध रक्त के लोगों में ही होती है। और इस दृष्टि से जाति के रक्त को सर्वथा शुद्ध रखना ही राष्ट्र का पहला धर्म है।

राष्ट्र के सम्बन्ध में मौलिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि राष्ट्र एक विशेष उद्देश्य-सिद्धि का कारण या उपाय-मात्र है। वह स्वतः कोई उद्देश्य नहीं है।

पृथ्वी में सैकड़ों राष्ट्र हो सकते हैं। पर इन सभों में से यदि आर्य-जाति का अस्तित्व उठा दीजिए तो इसके साथ ही संसार से उच्च आदर्श, संस्कृति, सभ्यता आदि भी उठ जायँगी।

हम नेशनल सोशलिस्ट के लोग राष्ट्र को उक्त उद्देश्य-सिद्धि के लिए एक उपाय-मात्र मानते हैं। राष्ट्र मानो एक नाव है जिस पर सवार होकर जातियाँ संसार-सागर को पार करने में रत हैं। बिना जाति के राष्ट्र की कल्पना ही हम लोग नहीं कर सकते।

हम इस बात को नहीं मानते कि आदमी सब बराबर हैं। कुछ निम्नतर लोगों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे इस बात का प्रचार करें कि सभी जातियाँ बराबर हैं। उनकी वृद्धि इसी प्रकार हो सकती है। समाज में ऊँचा स्थान उन्हें इसी रीति से मिल सकता है। चमार या पासी जब ब्राह्मण की बराबरी का दावा करता है तो इससे हानि तो ब्राह्मण की ही हो सकती है।

उस राष्ट्र को हम कभी अच्छा नहीं कह सकते जो अपनी मौलिक संस्कृति के स्रष्टा और श्रेष्ठ आदर्शों के प्रथम आविष्कारकों की यथार्थ उन्नति में सचेष्ट नहीं है। हम आर्य लोग राष्ट्र का प्रधान कर्त्तव्य यही समझते हैं कि वह हमारी जाति और नस्ल को सर्वथा शुद्ध रखने में तत्पर रहे और कोई ऐसी बात सम्भव न होने दे जिससे इतर जातियाँ हमारे रक्त के संसर्ग से उच्चता प्राप्त कर हमारा अस्तित्व ही मिटा दें। इस अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्जातीय एकतावाले भयानक सिद्धान्त के प्रचारक कार्लमार्क्स यहूदी का उद्देश्य ही यही था कि 'विश्वप्रेम' और 'अन्तर्राष्ट्रीयता' आदि की लम्बी-चौड़ी गप्पें हाँककर दुनिया को धोखे में डाल आर्य-जाति के गले पर छुरी चलावे और यहूदियों को सबके ऊपर उठावे।

हमें इसी विचार-धारा का मूलोच्छेद करना है। अभी समय है। अभी अवस्था सुधर सकती है। यद्यपि इस समय जर्मनी में यह विचार पर्याप्त हानि पहुँचा चुका है, और जातियों की पँचमेल खिचड़ी अर्से से पक रही है; पर अभी तक यह नही कहा जा सकता कि जर्मनी में कोई नई जाति इस सम्मिश्रण से उत्पन्न हो गई है। नार्डिक नस्ल अब भी ज्यों की त्यों मौजूद है। सिर्फ़ इतना हुआ है कि इस नस्ल की विशेषतायें इधर-उधर बिखर गई हैं। देश के विभिन्न प्रान्तों और विभिन्न ज़िलों में हम विभिन्न विशेषताओं को अलग-अलग देखते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि भावी जर्मन-सन्तति में हमें ये सब विशेषतायें एकत्र मिलें। जर्मन अभी तक संसार के स्वामी इसी लिए नही हो सके कि इनकी भौतिक विशेषतायें एकत्रित करने का प्रयत्न राष्ट्र की ओर से नही किया गया। यदि जर्मन-जाति को संसार में कुछ कर दिखाना है तो राष्ट्र का पहला कर्त्तव्य होगा जाति और नस्ल के बिखरे हुए तत्त्वों की और नार्डिक नस्ल की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं की रक्षा करना। हमारी भावी संतानें इन विशेषताओं से रहित न होने पायें, यही हमारा लक्ष्य होगा। विश्व में हमारा प्राधान्य तभी स्थापित हो सकेगा।

हमारा यह नया विचार और विश्व के प्रति यह नया दृष्टिकोण बहुतों को अनोखा लगेगा। यहाँ तक कि शुरू में बहुत थोड़े लोग ही ऐसे मिल सकेंगे जिनकी पूरी और सच्ची सहानुभूति हमको प्राप्त हो सकेगा। हमारी जाति के बहुत थोड़े पर सच्चे लोग ही हमारे दल में आवेंगे। पर ये ही एक दिन सबके स्वामी बन सकेंगे। हमारे गुट्ट मे उन्ही लोगों के लिए स्थान है जिन्होंने अपना रक्त सर्वथा शुद्ध रक्खा है। सौभाग्य से अभी ऐसे लोग है। यदि इनके रक्त का सम्मिश्रण इतर जातियों से न होने दिया जाय तो वर्णसंकर प्रजा अपने आप विलुप्त हो जायगी। उनमें अभी इतनी शक्ति नहीं कि बिना आर्य-रक्त के मेल के अपने बल पर अपनी कोई नई जाति खड़ी कर सक। पर हाँ, हमारी नार्डिक नस्ल के लोगों का रक्त-सम्बन्ध भविष्य में असम्भव हो जाना चाहिए।

इसके लिए राष्ट्र को पहले करना क्या होगा?

हमारे यहाँ विवाह-संस्कार की प्रथा बड़े लज्जाजनक रूप मे है। राष्ट्र का पहला धर्म है कि विवाह की मर्यादा इतनी उच्च बना दी जाय कि इसके फल-स्वरूप हमारी भावी सन्तति देवतुल्य हो। आदमी और बन्दरों के बीच की-सी मूर्तियाँ न जन्म लें। इसके लिए दो बातों का प्रबन्ध करना होगा। पहले तो जो लोग गर्मी, सूज़ाक या तपेदिक़ आदि पुश्तैनी बीमारियों के शिकार हो चुके हैं, उन्हे सन्तानोत्पादन से रोक दिया जाय। लोग इसे बड़ी क्रूरता या बर्बरता कहेंगे। पर क्या यह बड़ी दया का काम होगा कि राष्ट्र रोगी और अशक्त प्रजा से भर दिया जाय, दूसरी बात यह है कि कृत्रिम उपायों से सन्तति-निरोध की प्रथा बन्द होनी चाहिए। एक ओर तो भयंकर व्याधिवाले लोग अपना रोग प्रजामात्र में फैला रहे है और दूसरी ओर जो लोग हर तरह से तन्दुरुस्त और हृष्ट-पुष्ट है वे अप्राकृतिक उपायों से राष्ट्र को अपनी सन्तानों से वंचित रख रहे है। जिन लोगों को संतान उत्पन्न करना चाहिए और जिनको इसका नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है वे

इसे करना नहीं चाहते। देश भर में गली-गली सन्तति-निग्रह के सामान बिक रहे हैं। यहाँ तक कि फेरीवाले भी इन चीज़ों को खुले आम बेचते रहते है।

इस समस्या को हल करने में धार्मिक संस्थाओं से भी कुछ सहायता नहीं मिल रही है। मिशनरी लोग अफ़्रीका, निग्रो, काफ़िर, ज़ूलू और हाटेन्टाट आदि लोगों को प्रभु ईसा मसीह के उपदेश सुनाने के लिए आसमान सिर पर उठाये फिरते है पर उनके घर ही मे जो हाहाकार मचा हुआ है उसकी इन्हे कुछ परवा नहीं है। इन निग्रो लोगों को न ईसाई-संदेश की ज़रूरत ही है और न वे इसे समझ ही सकते है। चर्च का मुख्य धर्म यही है कि वह जाति के रक्त को शुद्ध रखने में अपनी शक्ति का उपयोग करे।

प्रचार-द्वारा देश के बच्चे-बच्चे को ये बाते समझा देनी होंगी। खान्दानी बीमारियों से पीड़ित लोगों के लिए प्रजा-वृद्धि करने का परिणाम देश और जाति के लिए कितना घातक हो सकता है यह सब को खूब समझा देना होगा। ऐसे लोगों को आधुनिक चिकित्सा-विधियों-द्वारा सन्तानोत्पादिका शक्ति से रहित कर देना होगा। और इधर स्वस्थ लोगों को सन्तानोत्पादन करने के लिए सब प्रकार का प्रोत्साहन दिया जायगा। योग्य स्त्री-पुरुष जिसमें सरलता से अपनी सन्तति का भरण-पोषण कर सके, इसका भार राष्ट्र को लेना होगा।

६०० साल तक भी अशक्त और रति-रोग-ग्रस्त लोग यदि सन्तानोत्पादन से वंचित रक्खे जायँ तो देखिए क्या से क्या होता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य और नस्ल के सुधार में कल्पनातीत उन्नति होगी। इसके लिए एक काम और करना होगा। नये प्राप्त किये हुए उपनिवेशों मे बसने का सार्टिफ़िकेट उन्ही लोगों को दिया जा सकेगा जो कड़ी डाक्टरी परीक्षा के बाद सर्वथा स्वस्थ और शुद्ध रक्त के समझे जायँगे।

चूँकि यह स्पष्ट है कि राष्ट्र का जीवन जाति और नस्ल को शुद्ध रखने और सुधारने पर निर्भर है, इसलिए राष्ट्र को अपनी सम्पूर्ण शक्ति

से देश भर में स्वास्थ्य और स्वास्थ्यवर्द्धक खेलों तथा व्यायामों का प्रचार करना होगा। हमें दुर्बल शरीरवाले विद्वानों और पंडितों की ज़रूरत नहीं है। ऐसे लोगों से देश का कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। इनमें न तो प्रबल इच्छा-शक्ति हो सकती है न तुरन्त फ़ैसला कर सकने का माद्दा हो सकता है। ये अपने विचार और पूर्वापर सम्बन्ध ही के चक्कर में ग़ोते लगाते रह जाते हैं और इधर देश का दिवाला निकल जाता है। हमें आवश्यकता है तगड़े और तन्दुरुस्त लोगों की, जो चाहे कम पढ़े-लिखे हों। ये लोग वक़्त पर काम आ सकते हैं। ये राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति हो सकते हैं। कोई भी राष्ट्र इन पर गर्व कर सकता है।

स्वास्थ्यरक्षा की शिक्षा स्कूल मे शुरू होनी चाहिए। पर इससे भी पहले युवती माताओं को इसकी पूरी शिक्षा दे देनी होगी। सन्तानोत्पत्ति के समय और शैशवकाल की कुछ मूर्खताओं तथा असावधानियों के फल से ही अधिकांश बच्चे मर जाते हैं। जो बचते भी हैं उनका भावी जीवन भार हो जाता है।

जातीय राष्ट्र को चाहिए कि स्कूलों में शरीर-चर्या पर अधिकाधिक ध्यान दिलाये। छोटे बच्चों के पढ़ने के विषय बहुत-से घटा देने होंगे। इनके बोझ से अधिकांश बच्चों का शरीर और स्वास्थ्य सदा के लिए कुचल दिया जाता है और ये सदा के लिए निकम्मे हो जाते हैं। फिर तमाशा यह कि जिन बहुसंख्यक विषयों का बोझ इनके कच्चे दिमाग़ पर लाद दिया जाता है उनका ये कोई उपयोग आगे चलकर भी नहीं कर पाते और न इनको वह सब याद ही रहता है। यह सब उनके लिए बिलकुल बेकार की चीज़ सिद्ध होती है। हो सकता है कि इतनी चीज़ें पढ़ने से कुछ बच्चों की चिन्तन, विचार या स्मरण शक्तियों का विकास हो, पर अधिकांश तो किसी काम के नहीं रह जाते।

स्कूलों में हम देखते हैं कि हफ़्ते में दो छोटे घंटे व्यायाम या खेल के नियत रहते हैं। और वे भी अनिवार्य नहीं होते। जिस लड़के की

रुचि हो वही इसमें सम्मिलित होता है। प्रत्येक स्कूल में दो घंटे रोज़—एक घंटा सुबह और एक शाम को—अनिवार्य रूप से सब लड़कों के लिए नियत होना चाहिए। इसमें सभी तरह के व्यायाम और स्वास्थ्य-वर्द्धक खेलों की व्यवस्था होनी चाहिए। खेलों का चुनाव इस दृष्टि से होना चाहिए जिससे बच्चों में साहस, प्रबल इच्छा-शक्ति, आत्म-निर्भरता तथा तुरन्त एक बात स्थिर कर सकने की बान पड़े। 'चरित्र' की शिक्षा ही असल शिक्षा है। किताबी कीड़ों की हमें ज़रूरत नहीं।

घूँसेबाज़ी के खेल का प्रचार स्कूलों में अवश्य होना चाहिए। मेरी राय में कोई खेल ऐसा नहीं है जो साहस, आत्म-निर्भरता और तत्काल निर्णय की शिक्षा देने में इससे बढ़कर हो। लोग कहेंगे कि यह बड़ा क्रूर और निर्दय खेल है। पर मैं कहूँगा कि तलवारबाज़ी से यह लाख दर्जे अच्छा है। इसे सीखकर लोग बड़े होने पर द्वन्द्व युद्ध करते फिरते हैं। फिर खाली हाथ अपने को आक्रमणकारी से बचा सकने में जो आत्म-निर्भरता और शक्ति आती है वह अपूर्व ही है। इस व्यायाम से शरीर में फुर्ती, लचीलापन और पेशियों में लोहे की-सी दृढ़ता आ जाती है।

हम लोग बुद्धि और वैज्ञानिक खोज आदि में अवश्य अगुआ माने जाते हैं। पर कोरे इन्हीं के बल पर हम संसार में अपना सिर सबके ऊपर नहीं उठा सकते। शरीर से निकम्मे इन दिमाग़ी दैत्यों के प्रताप से ही सन् १९१४ वाले युद्ध में हमें मुंह की खानी पड़ी।

पोशाक पर भी ध्यान देना होगा। पोशाक ऐसी होनी चाहिए जिससे शरीर में चुस्ती और दिमाग़ में स्फूर्ति रहे। फ़ैशन के पीछे लोगों को अपने को बरबाद करते देखकर हमें बड़ा दुःख होता है।

खासकर स्कूल के विद्यार्थियों के लिए पोशाक की शिक्षा भी शिक्षा का एक आवश्यक अङ्ग मानना चाहिए। वास्तविक सुन्दरता शरीर की होती है। उसी को व्यायाम आदि द्वारा सुन्दर बनाने की चेष्टा

करनी चाहिए। जहाँ यह नहीं है वहाँ खूबसूरत कपड़ों से कितनी सहायता मिलेगी।

नवयुवती अवश्य अपने प्रेमी से मिले। पर उसमें वास्तविक पुरुष-सौंदर्य को परखने की शक्ति होनी चाहिए। यदि उनमें यह गुण होता तो उनमें से हज़ारों यहूदी शोहदों से बरगलाई न जा सकती थीं।

सैनिक शिक्षा स्कूल-शिक्षा का आवश्यक और अनिवार्य अंग होगी। स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने पर इसका कोर्स पूरा करना होगा।

ऐसा कर सकने के बाद ही राष्ट्र से दो प्रमाण-पत्र नवयुवक स्नातक को मिलेंगे। एक के द्वारा उसे पूर्ण नागरिक स्वत्व का अधिकार मिलेगा और दूसरा उसके पूर्णतः स्वस्थ तथा विवाह-योग्य होने का अधिकार देगा। इन दोनों प्रमाण-पत्रों को नागरिक अपनी सबसे मूल्यवान् निधि समझेंगे।

लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध भी उक्त दृष्टिकोण के अनुसार ही करना होगा। पर उनकी शिक्षा में इस बात का ध्यान सबसे और सदा रखना होगा कि इनको एक दिन माता बनना है।

शारीरिक शिक्षा के बाद ही दूसरा स्थान चरित्र-शिक्षा को मिलना चाहिए। यों तो स्वभाव किसी का नहीं बदलता, पर शिक्षा-द्वारा संस्कार एक हद तक मोड़े भी जा सकते हैं। युद्ध के दिनों में कुछ जर्मनों को अपने देश के भीतरी रहस्यों को शत्रु पर प्रकट करने में मानो बड़ा मज़ा आता था। लड़ाई से लौटे हुए सैनिक अपनी कायरता का ऐलान करने में मानो अपना गौरव समझते थे।

ये सब स्कूलों की भ्रान्त शिक्षा-पद्धति के दुष्परिणाम हैं। स्कूलों में अपने अपराधी साथियों का नाम बता देनेवाले लड़के उन लड़कों से अच्छे समझे जाते थे जो नाम बताने की अपेक्षा चुप रहना अच्छा समझते थे। पर मैं तो उसी लड़के को चरित्रवान् कहूँगा जो मरते दम तक अपने साथी को न पकड़ाये।

लड़कों में शिकायत करने की आदत और कष्ट-सहन से मुँह मोड़ने

की प्रवृत्ति मुझे बहुत बुरी लगती है। लडाई के पहले की स्कूली शिक्षा का ही यह दुष्परिणाम था कि लड़ाई के पिछले दिनों में हमारे सेनानायक इतने किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे। सब जगह यह प्रसिद्धि हो रही थी कि जर्मन-सेनापति कोई निर्णय ही नहीं कर पा रहे हैं।

उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति, कठोर से कठोर शारीरिक या मानसिक यंत्रणा में भी अविचलित रह सकने की शक्ति और कर्त्तव्य-परायणता, बस ये ही कुछ चीजें ऐसी हैं जिनकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध हमारी पिछली शिक्षा-पद्धति में नही था। यह इसी ग़लत शिक्षा-पद्धति का परिणाम था कि सन् १९१८ के नवम्बर और दिसम्बर के महीनों में हमारे सेनापति कोई ठीक निश्चय नही कर पाते थे। वे अपनी कर्त्तव्यबुद्धि ही मानो खो बैठे थे। यह एक प्रकार की कायरता ही है जो मनुष्य को अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करने और विपत्ति-काल में तत्काल कोई उचित कार्यक्रम निश्चित करने में बाधा डालती है। ये सभी बुराइयाँ शिक्षा-पद्धति की त्रुटियों के कारण ही होती हैं।

शिक्षा-पद्धति में उचित सुधार और परिवर्तन के लिए जातीय राष्ट्र तीन उपायों से काम लेगा—

सबसे पहले बच्चों के पाठ्यक्रम से वे सब विषय हटा दिये जायँगे जिनका ९५ फ़ी सदी भविष्य-जीवन के लिए व्यर्थ होता है; क्योंकि वे सब बातें स्कूल से निकलने के पहले ही भूल चुकती हैं। छोटे बच्चों के कच्चे मस्तिष्क को निरर्थक ज्ञान से भरना खतरनाक है। इससे उनकी नैसर्गिक प्रतिभा के विकास की सुविधा ही नहीं मिलती। एक लाख विद्यार्थियों में से मुश्किल से २,००० ऐसे होते हैं जो भविष्य-जीवन में भाषा, साहित्य और व्याकरण आदि की शिक्षा का कोई सदुपयोग कर पाते हैं। शेष ९८ हजार का दिमाग़ यों ही इन विषयों के बोझ से नष्ट कर दिया जाता है। जो लड़के शुरू से ही साहित्यिक रुचि के हों उनके लिए यह ठीक हो सकता है, पर ऐसों का औसत बहुत थोड़ा होता है।

इस प्रकार इन विषयों के हटाने से जो समय बचेगा वह व्यायाम और स्वास्थ्य-वर्द्धक खेलों की शिक्षा में लगाया जायगा।

अन्य विषयों के सिवा इतिहास की शिक्षा-पद्धति में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता है। कुछ अतीत घटनाओं और उनकी तिथियों के रट डालने को इतिहास का अध्ययन नहीं कहते। इसकी शिक्षा इस दृष्टिकोण से देनी चाहिए कि जिससे भविष्य-जीवन में इस अतीत के अनुभव से लाभ उठाया जा सके। अतीत की घटनाओं के मूल में कौन-कौन-सी शक्तियाँ और विचार-धारायें काम कर रही थीं, यह जानने की आवश्यकता है। इसके लिए नये ढंग से इतिहास की पुस्तकें लिखवाने की और उन्हें पढ़ाने के लिए योग्य शिक्षकों की आवश्यकता होगी। जो शिक्षक इतिहास के वास्तविक रहस्य की कुंजी रखते हों और जो प्राचीन तत्त्वों का रूपक वर्तमान में खड़ा कर सकते हों, वे ही हमारे काम के होंगे।

अन्त में हमारे जातीय राष्ट्र का यह भी कर्त्तव्य होगा कि विश्व-इतिहास इस दृष्टि से लिखवावे जिसमें जाति और नस्ल के प्रश्न को अधिक महत्त्व दिया जाय।

दूसरी बात, जिसमें परिवर्तन की आवश्यकता है, यह है—संसार आज वस्तुवाद की ओर बड़े वेग से अग्रसर हो रहा है। सब बातों में 'मतलब और उपयोगिता' ही मानो सब कुछ हो रही है। व्यावहारिक कला और विज्ञान की शिक्षा की ओर ही वस्तुवादी जगत् झुक पड़ा है। वर्तमान जगत् की औद्योगिक आवश्यकताओं को देखते हुए इन विषयों की शिक्षा के आवश्यक होने में कोई संदेह नहीं। पर यही सब कुछ नहीं हो जाना चाहिए। इन्हीं चीज़ों को विश्व-संस्कृति का आधार मान लेना भयावह होगा। आदर्शों का ख़याल भी रखना होगा। संसार में पैसा ही सब कुछ नहीं है। पेट पालने योग्य शिक्षा को ही सर्वोपरि स्थान न मिलना चाहिए।

प्राचीन इतिहास, सभ्यता, संस्कृति तथा ललित कलाओं की शिक्षा

का मूल्य जातीय संस्कृति के खयाल से बहुत ऊँचा माना जाना चाहिए। विशेषतः प्राचीन इतिहास की शिक्षा की ओर बहुत ज़्यादा ध्यान देने की आवश्यकता है। अपने देश के अतीत गौरव को यदि हमारे देशवासी ठीक से समझे होते तो महायुद्ध में उस कायरता का परिचय न देते।

तीसरी बात यह कि हमारे नागरिकों को जात्यभिमान की शिक्षा देना भी परमावश्यक है। विज्ञान और साहित्य की शिक्षा के बोझ तले जनता को इतना न कुचल देना चाहिए कि वह अपने जातीय गौरव को भूल विश्वप्रेम के पाखंड में आ जाय। शिक्षा की रूप-रेखा कुछ इस ढंग से खड़ी करनी होगी कि प्रत्येक अपने को पहले 'जर्मन' समझे, फिर और कुछ। वह शिक्षा शिक्षा ही नहीं जो जाति और नस्ल के महत्त्व का ज्ञान नहीं कराती। यदि हमारी शिक्षा-पद्धति में इस बात पर यथोचित ध्यान दिया गया होता तो मार्क्सवादी प्रचार को इतनी सफलता न मिलती। लोग अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व के प्रपंच में मानो इस बात को भूल गये कि वे उस महान् आर्यवंश के वंशधर हैं जिन्होंने सृष्टि के आरम्भ में जगत् में सभ्यता का आलोक फैलाया। इससे हानि हमारी ही हुई। संसार इस समय एक बड़ी क्रान्ति के पथ पर है। अब देखना यह है कि इसका निर्णय आर्यों के पक्ष में होता है या यहूदियों के।

अन्त में हमारा कथन यह है कि जो जाति अपने वंश की विशेषताओं और अपने जातीय अस्तित्व तथा गौरव की रक्षा में दत्तचित्त नहीं है उसके लिए क्या शारीरिक क्या मानसिक सभी प्रकार की शिक्षा व्यर्थ है।

सब प्रकार की शिक्षा के अन्त में सैनिक शिक्षा अनिवार्य मानी जायगी।

फिर राष्ट्र का यह भी एक प्रधान कर्त्तव्य होगा कि वह अपने अन्तर्गत काम करनेवाले पदाधिकारियों का उचित चुनाव करे। केवल कालेज की डिग्रियों पर निर्भर करना भारी भूल होगी। राष्ट्र अपने

सेवकों की नैसर्गिक योग्यता और चरित्र की पूरी जाँच करके तभी उनको कोई सरकारी पद देगा। यह कोई ज़रूरी नहीं कि कोई देहात और ग़रीब घर का लड़का केवल इन्हीं कारणों से पद के लिए अनुपयुक्त माना जाय। दूसरे यह भी ज़रूरी नहीं कि किसी बड़े हाकिम का लड़का सिर्फ़ इसी वजह से बड़े पद का अधिकारी समझा जाय। यह हम मानते हैं कि बड़े पदाधिकारियों के लड़के घास छीलने के लिए नहीं बनाये गये हैं। पर हाथ के काम या मेहनत का कोई भी काम निन्दनीय या लज्जाजनक क्यों समझा जाय? हमारे राष्ट्र को ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देनी होगी जिससे दिमाग़ी काम करनेवाले शारीरिक काम करनेवालों को नीची निगाह से न देख सकें।

पर सब बातों में जाति और नस्ल की उच्चता का ध्यान रखना राष्ट्र का पहला कर्त्तव्य होगा। आज अगर कोई निग्रो वकालत पास कर लेता है तो इसके मानी ये नहीं हैं कि वह हमारे बराबर हो गया। यहूदी कहेगा कि यह इस बात का प्रमाण है कि आदमी सब बराबर हैं। अक़्ल के दुश्मन हमारे मध्यवर्ग के लोग प्रशंसासूचक आश्चर्य के साथ उस निग्रो वकील को देखते ही रह जायँगे। पर ये मूर्ख यह नहीं समझते कि प्रकृति ने जिस आदमी को जिस काम के लिए नहीं बनाया उसको उस बात की शिक्षा देना प्रकृति के विरुद्ध बड़ा भारी पाप है। हमारे आर्य-जाति के लाखों करोड़ों होनहार शिक्षा की सुविधा बिना अपढ़ रह जायँ और ज़ूलू, काफ़िर या हाटेंटाट लोगों की धार्मिक एवं साहित्यिक शिक्षा के लिए हम परेशान हों, यह कहाँ का तर्क है!

हमारा राष्ट्र इस मामले में बड़ा सतर्क रहेगा कि जो आदमी जन्म से जिस प्रकार की शिक्षा और पेशा या पद के उपयुक्त हो उसको वैसी ही शिक्षा दी जाय।

पदाधिकारियों के चुनाव में व्यक्तिगत योग्यता का स्थान ही सर्वोपरि माना जायगा। पर 'योग्यता' से हमारा मतलब कोरी किताबी योग्यता से नहीं है। हम बारम्बार कहेंगे कि हमें चलती-फिरती डिक्श-

नरियों की ज़रूरत नहीं है। हम सचमुच कर्मठ, आत्मविश्वासी, जात्य-भिमानी और देश पर न्योछावर होनेवाले आदमी चाहते हैं। ऐसे ही लोग गाढ़े समय में देश और जाति की सच्ची सेवा कर सकते हैं। गत युद्ध में जर्मन सैनिक जब तक देश और जाति की मानरक्षा को हृदय में रखकर लड़े तब तक हम लड़ाई पर लड़ाई जीतते चले गये। पर जब वे अपनी रोटी या जीविका-मात्र के लिए लड़ाई के मैदान में पहुँचे तभी से पाँसा पलटा और जर्मन-जाति संसार भर के उपहास और घृणा की पात्र समझी गई।

---

# तीसरा परिच्छेद

## राष्ट्र की प्रजा और राष्ट्र के नागरिक

आधुनिक समय में तथाकथित राष्ट्रों में केवल दो प्रकार के व्यक्ति हुआ करते हैं। नागरिक और विदेशी। राष्ट्र के 'नागरिक' वे होते हैं जो जन्म या बस जाने के कारण इस पद का आनन्द प्राप्त करते हैं। 'विदेशी' वे कहलाते हैं जिनको अन्य राष्ट्रों में इसी प्रकार के स्वत्व प्राप्त हैं।

आजकल राष्ट्र की सीमा के अन्दर जन्म होने से ही इन स्वत्वों का जन्मसिद्ध अधिकार हो जाता है। इनके निर्णय में जाति और नस्ल के बारे में कोई कुछ पूछता ही नहीं। इनका मानो अब कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है। किसी निग्रो का बच्चा जो किसी समय जर्मनी के किसी रक्षित राज्य में रहता हो और फिर आकर जर्मनी में बस जाय तो स्वतः उसे जर्मन राष्ट्र के नागरिक स्वत्व प्राप्त हो जाते हैं।

राष्ट्र के नागरिक हक़ पाना मानो किसी क्लब में नाम लिखाना है।

इस तरह की बातें सुनकर लोगों को क्षोभ हो सकता है पर तथ्य यह है कि आजकल नागरिक पद प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो नियम हैं वे इतने मूर्खतापूर्ण हैं कि आश्चर्य होता है। इनके नियमों को जैसा होना चाहिए वैसा बनाने में अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र ने हाथ डाला है। उनका प्रयत्न ठीक दिशा की ओर हो रहा है। कम से कम सहज बुद्धि और विवेक से काम ले रहे हैं वे लोग। वे लोग स्वास्थ्य की दृष्टि से बुरे लोगों को बाहर से आने नहीं देते और कुछ ख़ास जाति या नस्ल के लोगों को बसने नहीं देते। पर हमारे यहाँ तो पूरा पागलपन है। मानो हमें किसी बात की परवा ही नहीं है।

जातीय राष्ट्र अपने अधिवासियों को तीन भागों में विभक्त करता है—

( १ ) राष्ट्र के नागरिक ।

( २ ) राष्ट्र की प्रजा ।

( ३ ) विदेशी ।

सिद्धान्त यह है कि जन्म-मात्र से केवल 'प्रजा' कहलाने का अधिकार मिल सकता है। इनको सरकारी पद प्राप्त करने या वोट देने का अधिकार नहीं मिल सकता। प्रत्येक प्रजा को नागरिक पद प्राप्त करने के पहले अपनी जाति और नस्ल प्रमाणित करनी पड़ेगी। 'राष्ट्र की प्रजा' और 'विदेशी' में केवल यही अन्तर है कि 'विदेशी' किसी दूसरे राष्ट्र की प्रजा है। राष्ट्र की प्रजा अपने (जर्मन) राष्ट्र की प्रजा है।

जर्मन-जाति की प्रजा को पहले स्कूल की उस शिक्षा को प्राप्त करना आवश्यक है जो प्रत्येक जर्मन के लिए अनिवार्य है। यदि वह पूर्ण नागरिक होना चाहता है तो स्कूल की शिक्षा पूरी करने के साथ ही उसके लिए शारीरिक व्यायाम और खेल-कूद की शिक्षा लेनी भी अनिवार्य है। फिर इन शिक्षाओं को पूरी करने के बाद वह सेना में भर्ती होता है। सैनिक कोर्स पूरा करने के बाद उसे नागरिक का प्रमाण-पत्र मिल सकेगा। यह सार्टिफ़िकेट उसके जीवन की सबसे महत्त्व-पूर्ण वस्तु होगी।

राष्ट्र के नागरिक के रूप में चाहे वह झाड़ू लगानेवाला ही हो पर विदेशी राष्ट्र के राजा से भी अपने को बड़ा समझेगा।

जर्मन लड़की जब तक विवाह नहीं करती तब तक वह 'नागरिक' नहीं हो सकती। तब तक वह राष्ट्र की प्रजा ही कहलायेगी। पर व्यवसाय में लगी हुई जर्मन स्त्रियाँ नागरिक स्वत्व प्राप्त कर सकेंगी।

———

# चौथा परिच्छेद

## जातीय राष्ट्र का व्यक्तित्व और उसका अर्थ

यह नितान्त मूर्खतापूर्ण बात होगी कि एक ओर तो हम मनुष्य का मूल्य उसकी जाति को लक्ष्य करते हुए लगावें और साथ ही मार्क्सवादी सिद्धान्त 'मनुष्य सभी समान हैं' के विरुद्ध लड़ाई छेड़ें, जब तक कि हम इसका अन्त न कर लें। हमें अपने सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए पहले मार्क्सवादी सिद्धान्त का अन्त करना होगा—जाति और नस्ल के महत्त्व को सबके ऊपर रखना होगा।

कुछ लोगों की धारणा है कि आर्थिक जीवन में उचित परिवर्तन कर देने से ही राष्ट्र में काफ़ी उन्नति और सुधार हो सकते हैं। पर यह बड़ी भारी भूल है। इससे केवल ऊपरी मुलम्मा हो सकता है पर उसका कोई स्थायी प्रभाव राष्ट्र के जीवन पर नहीं पड़ेगा।

लोग समझते हैं कि श्रमिकों के वेतन बढ़ा देने, निम्नवर्ग के ग़रीबों और बेकारों की समस्या हल कर देने तथा उच्च और निम्नवर्ग के लोगों की आर्थिक अवस्था यथासम्भव समान स्तर पर रख देने से ही राम-राज्य स्थापित हो जायगा। पर यह घोर मूर्खता है। इसका प्रभाव कभी गहरा नहीं हो सकता। मनुष्य के विकास पर एक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सृष्टि के आरम्भ में यदि हम इस बात पर विचार करें कि मनुष्य में वह कौन-सी बात थी जो उसे अन्य जीवों से अलग करती थी, तो हम देखेंगे कि यह उसकी आविष्कार-बुद्धि थी। सबसे पहले उसी के मस्तिष्क से कोई ऐसी बात निकली जिससे वह जानवरों से बिलकुल अलग हो गया। यह बात पहले किसी एक मनुष्य के दिमाग़ से ही निकली होगी जिसकी देखा-देखी औरों ने उसे अपनाया होगा। आज भी हम देखते हैं कि कोई भी कौशल की बात सदा

किसी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के ही मस्तिष्क से निकलती है जिसका अनुकरण आगे चलकर सब लोग करने लगते हैं और सैकड़ों, हज़ारों वर्ष बाद वह कौशल मनुष्य-जाति की वस्तु हो जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य एक कौशल के बाद दूसरे का आविष्कार करता गया। अन्य वस्तुओं के साथ जीवन-संग्राम में सफल होने के लिए उसने सुरक्षित घर बनाकर रहने की विद्या निकाली। जानवरों से बचने और उनके शिकार के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाये। सबसे पहले ये सभी आविष्कार किसी एक व्यक्ति-द्वारा ही हुए और आज वही सिद्धान्त नये रूप में सारी दुनिया के काम आ रहे हैं।

इन सभी सिद्धान्तों का आविष्कार पहले किसी एक व्यक्ति ने ही किया। जन-समूह कभी कोई नई बात नहीं निकालता। बहुमत-द्वारा कभी कोई नया आविष्कार या नया संगठन नहीं होता। अपने दिमाग़ से कोई नई योजना निकालना किसी एक आदमी का ही काम होता है और मनुष्य-संप्रदाय की उन्नति तभी होती है जब सब कोई उसकी योजना को संगठित रूप से कार्य-रूप में परिणत करते हैं। जन-समाज का कल्याण इसी प्रकार सम्भव है। यह संगठित काम तभी सफल होता है जब जन-समूह एकमत होकर उस मनुष्य के मस्तिष्क को सर्वोपरि स्थान देता है। उसके व्यक्तित्व की श्रेष्ठता सभी स्वीकार करते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो कभी किसी योजना या कौशल-द्वारा जन-समाज के कल्याण की कोई बात नहीं हो सकती।

प्रकृति का यही सिद्धान्त है। पर आज का राजनीतिक जीवन प्रकृति के इस अटल सिद्धान्त को अन्यथा करना चाहता है। जब कि सारी मानव-सभ्यता व्यक्ति की उत्पादन-शक्ति के वरदान-स्वरूप ही प्राप्त हो सकी है, तब आज बहुमत की पूजा का ढोंग रचा जा रहा है। बहुमत का फ़ैसला ही सब बातों में अन्तिम निर्णय माना जा रहा है। और इसके फल-स्वरूप बहुमत तले सारे समाज का व्यक्तिगत जीवन विषाक्त बनाया जा रहा है।

यह यहूदियों के षड्यंत्र का परिणाम है। ये व्यक्ति की श्रेष्ठता को नष्ट करने के लिए बहुमत की श्रेष्ठता का पाठ पढ़ा रहे हैं। इस प्रकार, जिन जातियों की छत्रछाया में ये पल रहे हैं उन्हीं के व्यक्तिगत महत्त्व को गिराकर उसके स्थान पर जन-समूह की राय का झंडा गाड़ना चाहते हैं।

यह स्पष्ट है कि कार्लमार्क्स यहूदी के सिद्धान्त की जड़ में यही बात है कि किसी प्रकार व्यक्ति के महत्त्व को गिराकर, मनुष्य-जीवन के सभी प्रकार के कार्यों में बहुमत, या संख्याधिक्य का सिक्का जमाया जाय। राजनीति की दुनिया में इस सिद्धान्त ने पार्लमेंटी शासन-विधि का रूप पकड़ा। छोटी से छोटी समिति से लेकर सारे साम्राज्य में इस विषाक्त सिद्धान्त से काम लिया जा रहा है।

मार्क्सवाद कभी किसी संस्कृति या आर्थिक पद्धति की सृष्टि अपने तईं नहीं कर सका। कुछ ही समय बाद व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को अंशतः मानने पर इसको बाध्य होना पड़ा। अपने ही दायरे में मार्क्सवाद इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता।

इन कारणों से यह स्पष्ट है कि विश्व का जातीय सिद्धान्त मार्क्सवाद के बिलकुल विपरीत होगा। इसकी नींव जाति और नस्ल की श्रेष्ठता तथा व्यक्ति के महत्त्व पर स्थापित होगी। विश्व के प्रति यही इसका प्रधान दृष्टिकोण होगा।

जातीय राष्ट्र का मुख्य उद्देश्य होगा बहुमत-द्वारा शासन-पद्धति का अन्त करना और इसके स्थान पर एक व्यक्ति-द्वारा शासन-पद्धति की प्रथा चलाना। राष्ट्र या विधान वही अच्छा कहा जा सकता है जिसमें समाज के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कवाले व्यक्ति नेतृत्व के काम में लगाये जा सकें। इसके अन्तर्गत फ़ैसला करने के लिए किसी बहुमत की डिग्री की जरूरत न होगी। कुछ थोड़े से उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति राष्ट्र के कर्णधार का काम करेंगे। 'कौंसिलें' या परामर्शदायक समितियाँ रहेंगी, पर इनका काम परामर्श देना भर ही होगा। 'कौंसिल' शब्द अपने वास्त-

विक पुराने अर्थ (सलाह) की हैसियत पर आ जायगा। इनसे परामर्श सदा लिया जायगा पर निर्णय व्यक्ति के हाथ से ही होगा।

जातीय राष्ट्र में विविध विषयों में परामर्श के लिए विशिष्ट विषयों के विशेषज्ञों से ही काम लिया जा सकेगा। इस दृष्टि से राष्ट्र अपने प्रतिनिधि-मंडल का उपविभाग पेशों और उद्योग-धन्धों के हिसाब से कई राजनीतिक समितियों में करेगा। सब विभागों में सहयोग बनाये रखने के लिए इन सबके ऊपर एक 'सिनेट' रहेगी। पर क्या सिनेट और क्या चेंबर, निर्णय करने का अधिकार दो में से एक को भी न होगा। इनकी नियुक्ति काम करने के लिए होती है न कि फ़ैसला करने के लिए। विभिन्न सदस्य राय दे सकते हैं पर फ़ैसला करना तत्कालीन 'प्रेसिडेण्ट' या अध्यक्ष का ही हक़ होगा।

अपने इस सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने की सम्भावना के सम्बन्ध में पाठकों को इस बात का स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि विश्व के इतिहास में सदा पार्लमेंट पद्धति से ही शासन नहीं हुआ है। बल्कि इतिहास के बीच में यदा-कदा ही इस पद्धति से काम लिया गया है और जातियों ने अपनी अवनति के दिनों में ही इस विधि से काम लिया है।

पर कोई यह न सोचे कि कोरे अध्यक्ष के सिद्धान्त के बल पर ही इतना बड़ा परिवर्तन समाज के जीवन में हो जायगा। समाज के प्रत्येक प्राणी की विचारधारा उसी के अनुकूल बना देनी होगी। यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ही ऊपर की विचारधारा से ओत-प्रोत हो जायगा। तभी हमें सफलता मिल सकेगी।

इस प्रकार की क्रान्ति उस व्यापक आन्दोलन-द्वारा ही हो सकती है जो उक्त सिद्धान्त का प्रचारक हो और इस प्रकार आनेवाले राष्ट्र की रक्षा करे।

इसलिए नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन अपने को उक्त विचार और दृष्टिकोण से अभिन्न करता हुआ अपना संगठन ही इस प्रकार करेगा कि प्रचार के साथ ही साथ भावी राष्ट्र भी तैयार होता चले जिससे आगे चलकर राष्ट्र को ठीक रास्ते पर चलाने में अड़चन न हो।

# पाँचवाँ परिच्छेद

## विश्वसिद्धान्त और संगठन

जिस जातीय राष्ट्र की रूप-रेखा मैंने ऊपर आँकी है उसका अस्तित्व विचारमात्र से ही नहीं हो सकेगा। सिर्फ़ यह बता देने से काम नहीं चलेगा कि ऐसे राष्ट्र को कैसा होना चाहिए। सबसे आवश्यक वस्तु है इसको कार्यरूप में प्रत्यक्ष कर दिखाना। हम तब तक प्रतीक्षा करते नहीं बैठे रहेंगे कि वर्तमान पार्टियों का अन्त हो जाय तो हम काम में हाथ डालें; या उस समय की बाट देखते रहें जब कि ये सब दल अपना मत परिवर्तन करके हमारे दल में आ मिलें। यह सम्भव भी नहीं क्योंकि इन दलों के मुखिया यहूदी हैं।

यहूदी लाखों मध्यवित्त जर्मनों के साथ लेन-देन तथा अन्य प्रकार के व्यवहारों के सिलसिले में अपने विचार फैलाते चलते हैं। और ये सब जर्मन केवल अपने आलस्य, मूर्खता और दब्बूपन के कारण इनका विरोध नहीं कर पाते। इस प्रकार ये सर्वनाश के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। यहूदियों का अन्तिम लक्ष्य स्पष्ट है। जिस दल का नेतृत्व यहूदी के हाथ में होगा उसके द्वारा आर्य-जातियों के हित की कोई बात हो ही नहीं सकती।

इसलिए हमें इनके विरोध और इनके साथ घोर संघर्ष के लिए प्रस्तुत होकर मैदान में आना पड़ेगा। क्योंकि संघर्ष तो होना है ही। वर्तमान यहूदी विचारधारा को मेटना ही हमारा ध्येय है। हमारे नये दृष्टिकोण की स्थापना इसके अन्त होने पर ही निर्भर है।

यहूदी अपनी इस पाखण्डपूर्ण विचार-धारा की आड़ में विश्व का आर्थिक नियंत्रण अपने हाथ में लेना चाहते हैं। और इसी को वे लोक-समाज के लिए अपना 'रचनात्मक कार्य' कहते हैं। पर ऐसा तो वे कहेंगे ही।

पर किसी भी विश्व-सिद्धान्त की स्थापना तभी सम्भव होती है जब इसके विरोधी सिद्धान्तों का अन्त हो जाय। परस्पर-विरोधी राज-

नीतिक दलों में बहुधा समझौते हो जाया करते हैं। पर यह उनकी दुर्बलता का ही परिचायक है। व्यापक सिद्धान्त समझौता नहीं जानता। वह तो प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त का अन्त करने से सफल होता है।

धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है। धार्मिक सिद्धान्तों की सफलता केवल अपने मन्तव्य के प्रचार से ही नहीं होती। ईसाई-मत की सफलता इसी से हुई कि नास्तिकों का अन्त इसके द्वारा हुआ। अपने अस्तित्व की रक्षा यह तभी कर सका है।

विश्व-सिद्धान्त की सफलता के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपने दल में पहले पूर्ण एकता हो। इसके सदस्यों की पूरी मात्रा में एक राय और एक दिल होना सबसे ज़्यादा ज़रूरी है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें अपनी जाति में जो सबसे अधिक साहसी और बलवान् हों उनको अपने दल में लेना होगा। फिर यह भी आवश्यक है कि हम अपने दृष्टिकोण को बहुत संक्षिप्त और सूत्र-रूप में करके जनता के सामने रक्खें। विस्तृत और उलझे हुए विचार अल्प-शिक्षित जनता की समझ में नहीं आते। छोटी और चुभती हुई बातों का ही प्रभाव इन पर पड़ सकता है। हमारा विश्व-सिद्धान्त तभी सफल होगा जब विराट् जन-समूह हमारे कार्यक्रम को स्वीकार कर लेगा। पर यह स्वीकृति वैसी नहीं होगी जैसी कि राजनीतिक पार्टियाँ चुनाव जीतने के लिए चाहती हैं। विश्व-सिद्धान्त वर्तमान अन्य सिद्धान्तों के विरुद्ध युद्ध-यात्रा करता है और पार्टियाँ समझौते के पीछे दौड़ती हैं। हमें अपने दल में साहसी योद्धा और संघर्ष करनेवाले चाहिएँ।

पर प्रत्येक लड़नेवाले के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह आन्दोलन के नेताओं की प्रत्येक नीति और मनोवृत्ति की पूरी जानकारी रक्खे। क्योंकि ऐसा होने से वे सोचने-समझने में ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर डालेंगे और उलझन में पड़ जायँगे। फल यह होगा कि आन्दोलन की गाड़ी ही रुक जायगी। वह सेना कभी कोई काम नहीं कर सकती जिसमें सभी सेनापति हों। ठीक यही बात आन्दोलन के सम्बन्ध में भी

है। 'बुद्धिवादियों' से हमारा काम नहीं चलेगा। हमें तो सच्चे लड़ाके चाहिएँ जो आँख मूँदकर आदेशों का पालन करें। आन्दोलन में 'सुव्यवस्था' का स्थान सबके ऊपर है। सोचना और कार्यक्रम तैयार करना आन्दोलन के संचालकों का काम है। जन-समूह का काम उस निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करना है। पर जब सभी लोग कार्यक्रम के उचित-अनुचित की परीक्षा में अपनी बुद्धि लगाने लगेंगे तब कुछ काम न हो सकेगा।

हम एक मिसाल दे सकते हैं। यहाँ की सोशल डेमोक्रेसी की कार्य-पद्धति देखिए। नेता बुद्धिवादी यहूदी हैं और काम करनेवाले जर्मन श्रमिक। नेताओं के वाक्य को वेदवाक्य मानकर बेसमझे-बूझे ये काम कर रहे हैं और इसी से यहूदियों को इतनी सफलता मिल सकी है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए हमारे आन्दोलन ने अपनी विस्तृत विचार-धारा को सूत्र-रूप में संक्षिप्त कर लिया है। कुछ थोड़े से सरल पर अर्थपूर्ण वाक्यों-द्वारा जनता को सारे विचार समझा दिये जायँगे। ऐसे पचीस वाक्यों में आन्दोलन का सारा मर्म रख दिया गया है। एक सीमा तक इन वाक्यों को आन्दोलन का खुलासा कहा जा सकता है, जिसकी जानकारी इसके प्रत्येक अनुयायी के लिए आवश्यक है।

कुछ मौलिक सिद्धान्तों को अटल मानकर उन्हीं के आधार पर आगे की सारी इमारत खड़ी करना अपेक्षाकृत निरापद होता है। इन मौलिक सिद्धान्तों को हर घड़ी दृष्टि-पथ में रखते हुए ही आगे के कार्यक्रम को फ़िट कर लेना होगा। पर इन माने हुए मौलिक सिद्धान्तों में उलट-फेर, भविष्य के घटना-प्रवाह के कारण, घातक होगा। इसका अर्थ होगा आन्दोलन की दुर्बलता। जो आन्दोलन समय की गति के साथ अपने मौलिक सिद्धान्त दुहराते चलते है, वे कभी सफल नहीं हो सकते। इसलिए हम केवल आशा करते हैं कि हमारे आन्दोलन में इतनी शक्ति होगी कि मौलिक सिद्धान्तों में रद्दोबदल की नौबत न आवेगी। इनके सम्बन्ध में संचालकों में दो राय होने का अर्थ होगा आन्दोलन की भीतरी दुर्बलता।

इस सम्बन्ध में हम ईसाई चर्च से शिक्षा ले सकते हैं। इसकी शक्ति अपने एक बार माने हुए धार्मिक तत्त्वों से चिपके रहने के कारण ही है। समय की प्रगति सदा बलदती रहती है, पर उनके अनुसार चर्च अपना एक भी वाक्यांश बदलने को तैयार नहीं है। समय की आवश्यकताओं के अनुसार धर्म-संस्था के मौलिक सिद्धान्त बहुधा प्राचीन और निरर्थक प्रतीत हो सकते हैं, पर उनके लिए वह अपनी आत्मा को नहीं बदल सकती। इसी से उसका बल है।

नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी ने मौलिक सिद्धान्त के रूप में जो पचीस कार्यक्रम निश्चित किये हैं, उनमें परिवर्तन असम्भव होगा। वर्तमान और भविष्य सदा के लिए इसकी आलोचना, रद्दो-बदल या सुधार का प्रस्ताव हमारे सदस्य न करेंगे। वे अपने को इनको पुष्ट करने के लिए बाध्य समझेंगे। आरम्भ में काफ़ी तर्क-वितर्क और सोच-विचार के बाद उन्हीं की राय से इनकी उत्पत्ति हुई और इन्हीं के आधार पर पार्टी का प्रोग्राम बना। अब ये अटल हैं।

जातीय समाजवाद (नेशनल सोशलिज़्म) यदि सफल होना चाहता है तो उसके सदस्यों के मनों में इस बात का दृढ़ विश्वास होना चाहिए; इस आन्दोलन की मौलिक विचारधारा का दृष्टिकोण 'जातीय' है और ठीक उतने ही परिमाण में वह 'सामाजिक' भी है। पहले से इस बात की स्पष्ट घोषणा कर देना इस आन्दोलन का कर्त्तव्य है कि जर्मन नेशनलिस्ट पार्टी के बाहर इसके विचारों का प्रतिनिधित्व कोई नहीं कर सकता।

सभी तरह के दल, पार्टियाँ, संघ आदि अब अपने को 'जातीय' कह चले हैं। यह हमारे नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन का एक प्रभाव-मात्र है। इसके पहले शायद जातीय का अर्थ भी कोई नहीं जानता था। सबसे पहले इस शब्द का वास्तविक महत्त्व इसी के प्रोपेगैंडा-द्वारा प्रकट हुआ। और अब गली-गली सभी इसके प्रचारक होने का दम भरने लगे हैं।

---

# छठा परिच्छेद

## प्रारम्भ की कठिनाइयाँ; भाषण-शक्ति का महत्त्व

सन् १९२० की २४ फ़रवरीवाली विराट् सभा के समाप्त होते न होते दूसरी सभा की तैयारियाँ आरम्भ हो गई थीं। अभी तक महीने में एक बैठक करने से भी हम घबराते थे पर अब प्रतिसप्ताह एक बड़ी सभा होने लगी थी।

हर अगली बैठक में पहले से ज़्यादा आदमी आने लगे। सभा-भवन को हम लोग मन्दिर की भाँति एक पवित्र स्थान मानने लगे थे। वाद-विवाद आमतौर से 'युद्ध के अपराध' (War guilt) को लेकर शुरू होता था। पर युद्ध के अपराधों को लेकर कोई माथापच्ची नहीं करता था। इस विषय पर बहस छिड़ती ज़रूर थी, पर तुरन्त ही सन्धिवाले विषय पर विवाद छिड़ जाता था। बहुत ज़ोरदार व्याख्यान होते थे और कटुभाषा का उपयोग किया जाता था। और इसकी आवश्यकता भी थी।

उन दिनों सार्वजनिक सभाओं में वर्साई की संधि की आलोचना करना रिपबलिक पर चोट करने के बराबर समझा जाता था। इस सन्धि के समालोचक यदि राजतंत्रवादी नहीं तो कम से कम प्रतिक्रिया-वादी ज़रूर समझे जाते थे। वर्साई की आलोचना शुरू करते ही लोग 'और ब्रेस्ट-लिटोव्स्क के बारे में क्या कहते हैं?' कहकर हल्ला मचाने लगते थे। मूर्ख जनता हुल्लड़ मचाती जाती थी। हम लोग झल्लाकर दीवाल से अपना सर टकरा देने पर आ जाते थे। यह उनके दिमाग़ में किसी तरह आ ही नहीं सकता था कि वर्साई की सन्धि

जर्मन-जाति के लिए बड़ा भारी कलङ्क है। इस सन्धि-द्वारा हमारी मातृभूमि और हमारी जाति दोनों लुट गईं। इस भयानक सत्य को कोई समझ ही न पाता था। मार्क्सवाद की भयानक शिक्षा और शत्रु के विषाक्त प्रचार ने इन लोगों को अन्धा बना दिया था। कोई इसके ख़िलाफ़ चूँ तक नहीं करता था। मध्यवर्ग ने इस विषाक्त शिक्षा और प्रचार को रोकने के लिए कौन-सा उपाय किया? जनता को ठीक राह पर लाने ही के लिए उन लोगों ने क्या किया? कोई इन बातों की चर्चा तक नहीं करता था।

मुझे यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि हमारे आन्दोलन को इस युद्ध-पाप को स्पष्ट करने के लिए जनता पर ऐतिहासिक सत्य को प्रकट करना पड़ेगा।

बहुधा ऐसा होता है कि जब जनता किसी अनुभवी वक्ता के वाग्जाल के चक्कर में आ जाती है तो आन्दोलन यदि दुर्बल हुआ तो वह भी जनता के साथ बह चलता है। खासकर जब विरोधी वक्ता के वाक्यों में कुछ अच्छी युक्तियाँ भी हों।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण हमें दक्षिण टयरोलवाले प्रश्न से मिला। अपने को 'जातीय' कहनेवाले पत्र 'हेक्यूबा' ने इस प्रश्न को जो महत्त्व दिया वह जर्मन-जाति के लिए घातक था। बस फिर क्या था, जनता बे सोचे-समझे बह चली। अपने को 'जातीय' कहनेवाले बहुत-से दल और संस्थायें भी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने लगीं, सिर्फ़ इस डर से कि कहीं यहूदी लोग नाराज़ न हो जायँ। उधर यहूदी संसार का गला घोंटे दे रहे हैं और इधर हमारे तथाकथित 'देशभक्त' व्यक्ति उस सिद्धान्त से लड़ने में अपने को धन्य समझ रहे हैं जो यहूदियों-द्वारा फैलाये हुए इस अन्तर्राष्ट्रीय विष को दूर करने की चेष्टा कर रहा है।

कुछ ही दिनों में यह स्पष्ट हो गया कि सभाओं में जो लोग हमारे सिद्धान्तों के विपक्ष में बहस करते थे वे सदा एक-सी दलीलों से काम लिया करते थे। वे सिखा-पढ़ाकर भेजे जाते थे। पर अब मुझे

इस बात का अभिमान है कि इनका प्रोपेगैंडा व्यर्थ करने की कुंजी मुझे मिल गई है। दो साल बाद तो मैं इस कला का विशेषज्ञ हो गया।

मुझे जब बोलना होता था तब इनकी दलीलों के लिए मैं पहले से तैयार होकर जाता था। इनकी जो युक्तियाँ होती थीं उनकी धज्जियाँ मैं पहले ही अपने प्रारम्भिक भाषण में उड़ा देता था। इनके तर्कों की पोल और इनकी धूर्तता पहले ही जनता पर स्पष्ट हो जाती थी।

इस कारण मैंने अपना ढंग बदल दिया। मैं जब सैनिकों का शिक्षक था तब मैंने एक व्याख्यान वर्साई-संधि पर दिया था। पर दूसरी बार मैंने वर्साई और ब्रेस्ट-लिटोव्स्क दोनों पर तुलनात्मक प्रकाश डाला। लोग ब्रेस्ट-लिटोव्स्कवाली संधि की वास्तविकता के बारे में बिलकुल अन-जान थे और यही कारण था कि वर्साई को हमारे ब्रेस्ट-लिटोव्स्क में किये गये विश्वासघात का उचित परिणाम मानते थे। मैंने जनता का भ्रम दूर कर दिया। उसको भली भाँति समझा दिया कि ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की संधि वर्साई की तुलना में कितनी न्यायपूर्ण, निष्पक्ष और सहृदयतापूर्ण थी। एक भयानक झूठ का प्रचार इतने दिनों से हो रहा था और लोग आँख मूँदकर इसको मानते चले आ रहे थे। पर अंत में झूठ का भंडाफोड़ करने में मैं सफल हुआ।

इन सभाओं में भाग लेने से मैं एक अच्छा वक्ता हो गया और विराट् सभाओं में बड़ी सफलता से अपने भावों और सकरुण मुद्राओं से जन-समूह को प्रभावित कर सकता था।

पहले हमारी सभाओं में टेबुलों पर विज्ञापनों और काग़ज़ों के ढेर लगे रहते थे। पर हम लोग क्वचित् शब्दों ही पर निर्भर करते थे। जो बात मुँह से कहकर प्रत्यक्ष सरलता से समझाई जा सकती है वह लिख-पढ़कर नहीं।

वक्ता के सामने उसके श्रोता मौजूद रहते हैं। उसके शब्दों का उन पर क्या प्रभाव हो रहा है, कहाँ तक वे उसके शब्दों को समझ पा रहे हैं, उसकी बातों का उलटा असर तो नहीं हो रहा है, यह सब

वक्ता उनकी चेष्टाओं से समझता जाता है और तदनुरूप उचित परिवर्तन अपने शब्दों और भाव-भंगियों में करता चलता है। पर लेखक को ये सुविधायें नहीं प्राप्त हो सकती।

वक्ता को तुरन्त पता चल जाता है कि जनता उसकी बातों को समझ रही है, या नहीं। यदि नहीं तो उदाहरण देकर और अपने विचारों को सरल कर बार-बार कहने की सुविधा उसको रहती है। जब तक सभा-भवन का प्रत्येक व्यक्ति उसके प्रत्येक आशय को भली भाँति समझ न ले तब तक वह विविध उपायों से मिसालें देते हुए अपने विचारों को प्रकारांतर से प्रकट करता चलता है। अन्त में जनता की मुखाकृति और चेष्टायें ही वक्ता की सफलता या असफलता का प्रमाणपत्र तत्काल दे देती हैं।

बहुधा ऐसा होता है कि जनता किसी युक्ति के बल से नहीं बल्कि केवल आवेग और भावप्रवणता-वश कुछ बातों को पकड़े रहती है और लाख चेष्टा करने पर भी इनसे उसका पिंड नही छुड़ाया जा सकता। लेखों-द्वारा तो कभी इनको दूर नहीं किया जा सकता। यह तो उस प्रकार की आवेग और भावपूर्ण वक्तृता से ही सम्भव होता है। उनके हृदय के अन्तस्तल को स्पर्श कर सकने की शक्ति जिस वक्ता में होगी वही उनके विचार या हठधर्मी को दूर कर सकेगा।

मार्क्सवादी आन्दोलन को यह आश्चर्यजनक सफलता यहूदी बुद्धि-विशारदों के लेखों-द्वारा उतनी नही प्राप्त हुई जितनी कि इनके राह-चलते उत्तेजकों और गली-गली प्रचार करनेवाले वक्ताओं के द्वारा। मार्क्स की पुस्तक को कितने आदमियों ने पढ़ा होगा ? वह पुस्तक जनता के लिए नहीं वरन् उन उच्च-शिक्षा-प्राप्त बुद्धिवादियों के लिए लिखी गई थी जो उसके आन्दोलन के नेता थे। इसका उद्देश्य था विश्व पर विजय प्राप्त करना और उसे यहूदियों के हवाले कर देना। पर यह काम उसके मंत्र से दीक्षित लाखों मौखिक प्रचारकों के शब्दों-द्वारा हो रहा था।

कुछ लोगों में यह एक भ्रान्त धारणा-सी हो गई है कि बुद्धि में लेखक वक्ता से श्रेष्ठ होता है। इसका एक मज़ेदार उदाहरण दिये बिना मैं नहीं रह सकता। गत महायुद्ध के समय लड़ाई के सामानों के मंत्री की हैसियत से लायड जार्ज की वक्तृतायें एक पत्र में छपी थीं। एक जर्मन पत्रकार ने उन पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि उनसे किसी प्रखर बुद्धि या ज्ञान का पता नहीं चलता। वे बहुत मामूली दर्जे की वक्तृतायें हैं। मैंने उन वक्तृताओं को लेकर ध्यान से पढ़ा। मुझे उस जर्मन पत्रकार की नादानी पर बड़े ज़ोर की हँसी आई। दी गई वक्तृता के जोश और हृदय स्पर्श करने की शक्ति का पता छपी वक्तृता पढ़ने से नहीं लग सकता। वह मूर्ख पत्रकार उस महान् ब्रिटिश नेता के शब्दों की वास्तविकता को नहीं परख सका। वे वक्तृतायें उस वेल्सवासी (लॉयड जार्ज) के असाधारण कार्य की परिचायक थीं। उनको पढ़ने से यह स्पष्ट हो गया कि जनता के अन्तस्तल को स्पर्श कर सकने की कितनी असाधारण क्षमता उसमें थी।

हो सकता है कि बैथमैन-हालवेग की वक्तृतायें अधिक बुद्धिमत्ता-पूर्ण हों। पर वास्तव में उनसे यही स्पष्ट होता था कि वे अपनी जाति को अपील नहीं कर सकते।

पर लायड जार्ज के भाषणों का भोलापन ही उनके शब्दों का अनोखा चुनाव और ऐसे सरल पर चुभते हुए दृष्टान्तों का बाहुल्य जो जनता पर फ़ौरन चोट करें, अनुपम थे। इससे उनकी विशाल राजनीतिक योग्यता का प्रमाण मिलता था।

---

# सातवाँ परिच्छेद

## विरोधियों से संघर्ष

सन् १९१९-२० और १९२१ तक में बहुधा मध्यवर्ग की सभाओं में जाया करता था। मैं इस वर्ग के नेताओं के सम्बन्ध में जानना चाहता था और थोड़े ही समय में मेरी समझ में यह बात आगई कि क्यों ये कहे हुए शब्द या भाषण को इतना तुच्छ समझते हैं। लेखों में इनकी इतनी आस्था क्यों थी यह भी समझ में आगया। डेमोक्रेट पार्टी, जर्मन नेशनलिस्ट, जर्मन पीपल्स पार्टी, बवेरियन पीपल्स पार्टी आदि की बैठकें मैंने देखीं। इनके प्रदर्शनों में भाग लेनेवाले इनके सदस्य या अनुयायी ही होते थे। इनकी सभाओं में कोई व्यवस्था नहीं थी और वहाँ बैठने से ऐसा जान पड़ता था कि ये सब ताश खेलने आये हुए हैं। उनकी सूरत देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि ये लोग क्रान्ति करने आये हुए हैं। 'शान्ति या मौत का अखंड साम्राज्य' व्याख्यानों को सुनते समय लोग अकसर ऊँघते या अँगड़ाई लेते रहते थे, मानो बेगारी पकड़कर बैठाये गये हैं। किसी तरह खतम होने पर मानो 'जान बची लाखों पाये' कहते हुए वे शराबखानों या क्लबों की ओर लपकते थे। वक्ता लोग अपने भाषणों में शान्ति का ख़याल सबसे ज़्यादा रखते थे। अन्त करते समय कोई देशभक्तिपूर्ण गाना गवाया जाता, पर इसकी सूचना होते ही श्रोता लोग रफूचक्कर हो जाते। सब खुली हवा में जाकर मानो जान छुड़ाते।

पर नेशनल सोशलिस्ट की बैठकें 'शान्तिपूर्ण' कभी हो ही नहीं सकती थीं। उनमें तो मानो समुद्र की दो परस्पर-विरोधी उत्ताल

तरङ्गों की भाँति दो विचार-धाराओं में घोर संघर्ष चलता था। और इनका अन्त देश-प्रेम के गाने गवाकर नहीं होता था। जनता स्वतः भावावेग में उत्तेजित होकर पागलों की भाँति देश-प्रेम के उद्‌गारों में उबल पड़ती।

हमारी सभाओं में शुरू से ही पूरी व्यवस्था और चेयरमैन की आज्ञा को आँख मूँदकर पालन करने का नियम चलाना आवश्यक समझा गया था।

सभा में गड़बड़ी मचानेवाले भी बहुत आया करते थे, ख़ासकर लाल झंडे के अनुयायी। ये दल-बल के साथ आकर एक ख़ास जगह बैठ जाते और इनकी शक्ल देखते ही जान पड़ता था कि मानो वे कह रहे हों कि 'आज हम तुमसे निबट लेंगे।' हम लोग कभी-कभी बड़ी कठिनाई में पड़ जाते थे। हमारा विरोध करने का इनके पास पर्याप्त कारण भी था। हम इनके मार्ग के कंटक थे और हमें जल्दी से जल्दी ही उखाड़ फेंकना ये अपना कर्तव्य समझते थे।

हम लोगों ने बहुत सोच-समझकर अपने पोस्टरों का रंग लाल चुना था। इसके द्वारा हमारा अभिप्राय वामपक्ष को चिढ़ाने और उत्तेजित करने का था जिससे ये हमारी सभाओं में आवें और हम इनका बल तोड़ दें।

तब ये हमारे विरोधी निम्नवर्ग को यह समझाकर हमारी सभाओं में भेजने लगे कि "हम लोग 'मानर्किस्ट' (राजतंत्रवादी यानी रिपबलिक के विरोधी) हैं और सभाओं को तोड़ना उनका धर्म है।" "घूँसे मार-मारकर हम लोगों को पस्त कर दिया जाना चाहिए" इत्यादि।

हमारी बैठकें ठसाठस भरी होती थीं। और गड़बड़ मचानेवाले गँवार श्रमिकों की संख्या काफ़ी बड़ी होती थी। ये ख़ूब सिखा-पढ़ाकर भेजे जाते और लड़ने के लिए इतने तैयार होकर बैठते थे कि देखते ही जान पड़ता था कि मानो बारूद के पीपे हैं और दियासलाई छुआने भर की कसर है। पर होता इसका उलटा था। हमारी युक्तियाँ, हमारे

तर्क और हमारी अपीलें इनके मन में कुछ ऐसी बैठ जातीं कि वे हमारे दल के न बनते तो कम से कम कुछ सोचते-विचारते हुए घर लौटते थे और इतना तो समझ ही जाते कि हमारी बातों में कुछ तत्त्व है।

विरोधियों को जब पता चला कि उनकी यह चाल उलटी पड़ रही है तो उन्होंने दूसरे पैंतरे बदले। तब उन्होंने यह बोली निकाली, 'श्रमिको! जातीय उत्तेजकों की सभाओं में मत शरीक़ हो।' इसी प्रकार तरह-तरह की तरकीबों से काम लिया जाने लगा।

हमारे विरुद्ध लेख पर लेख निकलने लगे। ये सब आदि से अन्त तक झूठी बातों से भरे होते थे। इनका उद्देश्य होता था हमें अपराधी और देशद्रोही ठहराना। पर ये कभी हमारी सभाओं को भंग करने में सफल न हो सके। इसका मुख्य कारण था इनके नेताओं की हद दर्जे की कायरता। बैठकों के समय ये बाहर रहते और इस बात की प्रतीक्षा करते कि इनके आदमी अब गड़बड़ मचायेंगे। पर ऐसा होने की नौबत कभी नहीं आती थी।

उन दिनों हमें अपनी रक्षा का भार अपने ही हाथों में लेने को बाध्य होना पड़ता था। इन मामलों में सरकार या पुलिस की सहायता पर कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। ये लोग गड़बड़ मचाने-वालों को ही शह देते हैं। और बहुत हुआ तो सभा को बिलकुल बंद करा देते हैं। और यही हमारे विरोधियों का लक्ष्य था। इसी से हम सरकारी सहायता लेने के पक्ष में नहीं थे।

हमारी यह दृढ़ धारणा थी कि जो आन्दोलन अपनी सफलता के लिए सोलह आने पुलिस पर निर्भर करता है वह जनता की दृष्टि में मिट जाता है और अपनी भीतरी दुर्बलता का ढिंढोरा पीटता है।

बहुधा ऐसा होता था कि हमारे मुट्ठी भर आदमी इन हुल्लड़बाज़ों की मरम्मत के लिए काफ़ी होते थे। ये आते तो हज़ारों की संख्या में थे, पर इतना ये खूब समझते थे कि यदि एक बार हाथा-पाई शुरू हुई तो हमारे २० या २५ आदमी कम से कम इनके १०० की तो चटनी

बना ही डालेंगे, अन्त में चाहे वे सबके सब समाप्त हो जायँ। बस, इसी डर से वे शान्त हो जाते थे।

उन दिनों यह बात सब पर विदित हो चली थी कि यह क्रान्ति इन मध्यवर्गवालों की कायरता के कारण ही सम्भव होगी। जर्मनी के शासन की बागडोर इनके हाथ मे थी और उस गिरे दिन में जर्मनी में इतने लोग थे जो हमें तोड़ने भर को काफी थे। पर हम लोगों ने हाथों में दही नहीं जमाया था। हम लोग लडने में विश्वास रखते थे। अपने अनुयायियों को मै बारम्बार यह समझाया करता था कि "कोरी बुद्धि कभी कुछ काम नही दे सकती, यदि उसकी रक्षा के लिए शक्ति और बल नहीं है। शान्तिदेवी युद्ध देवता की छत्रच्छाया में ही विचर सकती है। शान्ति के प्रत्येक महान् कार्य की रक्षा शक्ति और बल के द्वारा हो हो सकती है।"

इस प्रकार हमारे अनुयायियों में सैनिकभाव भर चला था। युद्ध की मनोवृत्ति से वे ओतप्रोत हो चुके थे। वे इस बात को भली भाँति समझ गये थे कि किसी मुर्दा राष्ट्र के बेजान अधिकारियों की आज्ञा-पालन करते हुए मुर्दो की तरह जीवन बिताने से कही अच्छा है देश और जाति के नाम पर अपने जीवन की आहुति दे देना, या जीने की तरह जीना।

मै जब इस तरह के उपदेश देता तो इन युवकों की आँखें उत्साह को अपूर्व ज्योति से चमक उठती। सभा में जब कभी हुल्लड़बाजो को दुरुस्त करने का मौका आता तो ये बाज़ की तरह उन पर टूट पड़ते। अङ्गभङ्ग होने या अपनी जान से ही हाथ धो बैठने की रत्ती भर परवा ये न करते। ये खून से लथपथ निकलते पर इनको इस महान् सत्य से संतोष होता कि ये अपने आन्दोलन को सफल बना रहे हैं।

इधर सन् १९२० से ही शान्ति-रक्षा की फ़ौजें तैयार की जा रही थीं और सन् १९२१ की गर्मी तक इनकी कई टुकड़ियाँ नियुक्त हो गई थीं। इनके बहुत-से छोटे-छोटे दल भी नियुक्त हो गये थे। हमारी

नित्य की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर इनकी नियुक्ति सरकार ने आवश्यक समझ ली थी।

उस समय हमारी प्रधान समस्या थी अपने आदमियों को सुचारु रूप से इस ढग से सगठित करना जिससे ये सभाओं को निर्विघ्न रूप मे करने मे सहायक हों। तब तक इस आन्दोलन का कोई झंडा या कोई प्रतीक न बना था। भविष्य को दृष्टि में रखते हुए हमें इसकी आवश्यकता थी। हमें एक ऐसे चिह्न-विशेष या बैज की ज़रूरत थी जिससे हम सबसे अलग जान पड़े, खासकर यहूदी अन्तर्राष्ट्रवादियों से।

किशोरावस्था मे कई बार मुझे इसका अभाव खटका था। मैं अब चिह्न के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को खूब समझने लगा था। युद्ध के बाद बर्लिन में मार्क्सवादियों का एक विराट् प्रदर्शन मुझे देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। लगभग डेढ लाख आदमियों का जुलूस था। यह मानो लाल झडों का एक समुद्र था। लाल फूल, लाल दुपट्टे और लाल झडियों से विराट् जन-समूह व्याप्त था। तभी मेरी समझ में यह बात आगई थी कि विराट् रूप में प्रदर्शन और नाटक करने का कितना गहरा प्रभाव लोक-समूह पर पड़ सकता है। जनता की दृष्टि से इसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व असाधारण है।

मध्यवर्गवालों का कोई झडा नहीं था। इनका कोई विश्व-सिद्धान्त तो था नहीं। इनका दल अपने को 'देशभक्त' कहता था और साम्राज्य के झडे को ही ये काम मे लाते थे।

प्राचीन साम्राज्य का काला-सफ़ेद-लाल झंडा हमारे तथाकथित "जातीय" मध्यवर्ग दलों ने फिर से खडा किया था।

यह स्पष्ट है कि कोई ऐसा चिह्न या प्रतीक जो मार्क्सवादियों-द्वारा अपमानित किया जा सके, हमारे काम का नहीं था। हमें कोई ऐसा झंडा नहीं खड़ा करना था जो मार्क्सवादियों के पाँव-तले रौंदा जा सके। हमने माना कि जिन पुराने झंडों के नीचे जर्मनों ने अपना

रक्त बहाया है उनको वे बड़ी श्रद्धा के साथ देखते हैं। पर उनका महत्त्व भावी संघर्ष को ध्यान में रखते हुए अधिक नहीं है।

इन कारणों से हम नेशनल सोशलिस्ट दलवालों की धारणा थी कि पुराने चिह्न या प्रतीक नवीन उद्देश्य की दृष्टि से अब काम के नहीं रहे। क्योंकि मृत और छिन्न-भिन्न पुराने साम्राज्य का मुर्दा उखाड़कर जीवित करना हमारा ध्येय नहीं था। हमें नवीन राष्ट्र निर्माण करना था।

इस दृष्टि से जो आन्दोलन आज मार्क्सवाद से लड़ रहा है उसके झंडों में नवीन राष्ट्र के चिह्न होने चाहिए।

मैं स्वयं पुराने झंडों के पक्ष में था। पर कई बार रद्दोबदल करने के बाद अन्त में मैंने एक 'डिज़ाइन' निकाला। सफ़ेद पट्टीदार लाल ज़मीन और बीचोबीच एक काला टेढ़ा क्रास (स्वस्तिक), बस यही हमारे झंडे का डिज़ाइन निश्चित हुआ। बहुत छान-बीन करने के बाद मैंने झंडे और सफ़ेद पट्टी की नाप को ठीक किया और उसमें क्रास की नाप और मोटाई फ़िट की। तब से यह ज्यों का त्यों है।

हमारे आदमियों की भुजाओं पर लगाने के लिए इसी डिज़ाइन के बैज बनवाये गये।

यह नया झंडा पहले-पहल सन् १९२० की गर्मियों में फहराया गया।

दो वर्ष बाद हमारे आदमियों की संख्या हज़ारों के ऊपर पहुँची। ये सभी युद्ध के मंत्र से दीक्षित थे और इनका नाम हमने 'तूफ़ानी टोली' (Storm-detachment) रक्खा था। विश्व-सिद्धान्त की पोषक और संरक्षक इस नई लड़ाकू टोली को अब एक झंडा देना आवश्यक हो गया था।

उस समय म्यूनिच में मार्क्सवादी दलों के सिवा कोई और पार्टी ऐसी न थी जो हमारी पार्टी की भाँति विराट् सभायें और प्रदर्शन कर सकती। म्यूनिच का 'किंडल-केलर' हॉल, जिसमें पाँच हज़ार आदमी बैठ सकते थे, बहुधा ठसाठस भर जाता था। इससे बड़ा उस शहर में एक ही और हॉल था—'सर्कसक्रोन'।

सन् १९२१ के अन्त में जर्मनी में एक बार फिर चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न हो गई थी। पेरिस में एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार जर्मनी १०० मीलियर्ड सोने के मार्क देने पर विवश किया गया था। और यह शर्त अब 'लंदन अल्टिमेटम' के रूप में पक्की होने जा रही थी।

दिन पर दिन बीतते चले जा रहे थे पर कोई पार्टी या कोई दल इस घोर अन्याय के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर रहा था। ऐसा जान पड़ता था मानो कोई इस बात को जानता ही नहीं। किसी के जूँ तक नहीं रेंगी। हम इसके विरुद्ध एक विराट् प्रदर्शन की तैयारी कर रहे थे। पर हमारी कार्यकारिणी इसके लिए कोई तिथि नही तय कर पा रही थी।

१ फ़रवरी मंगलवार को मैंने इस विषय मे कार्यकारिणी का अन्तिम निर्णय माँगा। मैं इस बात पर अड़ गया कि मुझे आज बता दिया जाना चाहिए कि यह प्रदर्शन होगा या नहीं और यदि होगा तो किस तिथि को। पर तब भी कोई निश्चित उत्तर नहीं मिल सका। लोग दुबिधा और पसोपेशवाली बातें करके टाल देना चाहते थे।

अब मुझे धैर्य नही था। अकेले अपने उत्तरदायित्व पर मैंने प्रदर्शन करने का निश्चय कर लिया। बुधवार के दोपहर को दस मिनट में मैंने दीवारों पर चिपकाये जानेवाले पोस्टरों और अन्य विज्ञापनों की इबारत लिखवा दी और अगले दिन (तीसरी फ़रवरी) के लिए सर्कसक्रोन को भाड़े पर ले लिया।

उस समय को देखते हुए यह एक असाधारण दुस्साहस का काम था। पहले तो उस विशाल सभा-भवन का भरना असम्भव-सा था, दूसरे यह निश्चित-सा था कि सभा भंग कर दी जायगी। पर एक बात निश्चित थी—यदि इसमें हमे सफलता न मिली तो हम बहुत दिन तक सँभल न पायेंगे।

इश्तिहारों, नोटिसों और निमंत्रण-पत्रों आदि को छपवाने, चिपकाने और बँटवाने आदि के लिए हमारे पास सिर्फ़ दिन भर का समय था।

और फिर दैवी विपत्ति यह हुई कि बृहस्पतिवार को दिन भर पानी बरसता रहा। ऐसे दुर्दिन में यों भी कोई घर से बाहर न निकलता। फिर एक ऐसी सभा में जाना जहाँ मार-पीट और खून-खराबा होना निश्चित-सा था। सबको विश्वास-सा हो रहा था कि अबकी हम बुरी तरह असफल होंगे। पानी, पाला और बर्फ़ की बात तो दरकिनार, यों भी मुफ़्त में अपना सर फुड़वाने कौन जायगा!

बृहस्पतिवार को मैंने किराये पर दो लारियाँ ठीक कर ली थी। इनको लाल रंग के कागजों से मढ़ दिया गया था। इनमें हमारे दल के १५ आदमी आते थे। इनको हुक्म था कि रास्ते में तेज़ भगाकर आवें और चलते समय विज्ञापनों के छपे पर्चे फेंकते चलें। अभी तक मार्क्सवादियों को छोड़कर किसी दूसरे दल ने प्रोपेगैंडा के लिए लारियाँ नहीं ली थी।

मैं बहुत चिन्तित था। पर जब मैं सभा-भवन में पहुँचा तो मेरे आनन्द-मिश्रित आश्चर्य का ठिकाना न रहा। हॉल ठसाठस भर चुका था। मुझे आदमियों को ठोस दीवाल चीरकर स्टेज तक पहुँचना पड़ा। इस अवसर पर मुझे कुछ कुछ वैसी ही खुशी हुई जैसी उस पहली सफल सभा के समय हुई जब मैंने अपनी २५ बातें प्रथम बार जनता के सम्मुख रक्खी थी। प्लेटफ़ार्म पर खड़े होने पर मुझे अपनी असाधारण सफलता का पूर्ण अनुभव हुआ। हॉल में तिल रखने को जगह नहीं थी।

मेरे भाषण का विषय था 'भविष्य या सर्वनाश'। मैं ढाई घंटे के ऊपर बोला। पर शुरू के आधे घंटे बाद ही मुझे अपनी सफलता का विश्वास हो गया था।

मध्यवर्ग के पत्रों ने दबते-दबते हमारे इस प्रदर्शन को 'जातीय' ढंग का कहा। पर नम्रता-वश अपनी टिप्पणियों में उन्होंने इस प्रदर्शन के सचालकों का नाम लेना ठीक नहीं समझा।

इसके बाद १९२१ में म्यूनिच में हमारी बैठकें और जल्दी-जल्दी

होने लगीं। हफ़्ते में दो और गर्मियों में तीन-तीन तक बड़ी बैठकें करते थे। अब हमारी सब बैठकें सर्कसक्रोन में होती और शायद ही कभी यह ठसाठस न भरता हो।

इसके फलस्वरूप हमारे अनुयायियों की संख्या शीघ्रता से बढ़ चली।

पर हमारे विरोधी चुप बैठनेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने एक बार और जी-जान से हमको गिराने की ठानी। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि चाहे जैसे हो, हमारी सभा भंग करेंगे ही। इसके लिए मारपीट और खून-खराबा का पूरा प्रबन्ध उन्होंने कर लिया।

खैर, वह दिन निकट आया। मैं एक सभा में बोलने को था। सन्ध्या के छः और सात बजे के बीच मुझे समाचार मिला कि सभा भंग करने की पूरी तैयारियाँ हो चुकी हैं। इसके पहले मुझे कोई निश्चित सूचना नहीं मिल सकी थी। कुछ संयोग ऐसा था कि इसके पहले हम अपनी तैयारी नहीं कर पाये थे। उसी दिन हम लोगों ने अपना पुराना कार्यालय छोड़ा था। सब सामान और कागज़ात दूसरे भवन में उठ रहे थे। सब लोग इसी में व्यस्त रहे। इसका फल यह हुआ कि हमारा सभारक्षक दल उस दिन संगठित ही न हो सका। मुश्किल से छियालीस आदमी कुल इकट्ठे हो सके, और आफिस के उलटफेर के कारण अलार्म टेलीफ़ोन भी काम लायक नहीं रह गये थे कि घंटे भर में और लोगों को बुलवा लिया जाय।

लगभग पौने आठ बजे मैं सभा-भवन में पहुँचा। मेरी आशंका सही निकली। सभा-भवन ठसाठस भर चुका था और पुलिसवाले औरों को भीतर जाने नहीं दे रहे थे। हमारे विरोधी पहले से वहाँ मौजूद थे और भीतर अच्छी जगहों पर बैठ चुके थे, पर हमारे साथी बाहर थे। मेरे परिचक मुझे बरसाती में मिले। ये कुल ४५ या ४६ नवयुवक थे। मैंने इनको एकान्त में बुलाकर कुछ बातें समझाईं कि 'आन्दोलन का यह संकटकाल एकाएक आ पड़ा है और इसमें

हमारी कहाँ तक श्रद्धा है यह साबित कर दिखाने की घड़ी आज आ पहुँची है। हम चाहे टूट जायँ पर मुड़ेंगे नहीं, दबेंगे नहीं। सभा-भवन से या तो हमारी लाश ही निकलेगी या हम सफल होंगे।' हमारे युवकों का चेहरा उत्साह से चमचमा रहा था। मैंने उनको यह भी समझा दिया कि अपनी रक्षा का सर्वोत्तम उपाय है पहले चोट करना और कसकर चोट करना।

मेरी बातों का उत्तर 'थ्री चियर्स' द्वारा दिया गया और आज का यह नारा सदा से ज़ोरदार और ख़ौफ़नाक-सा सुनाई पड़ा।

फिर मैं भवन के अन्दर गया और वहाँ की विषम स्थिति अपनी आँखों देखी। हमारे विरोधी एक साथ सटे बैठे थे और मुझे ऐसे विकराल नेत्रों से घूर रहे थे मानो खा जायँगे। असंख्य चेहरे भयानक घृणापूर्ण दृष्टि से मुझे देख रहे थे और कुछ लोग चिल्ला भी रहे थे। इन सबका एक ही अर्थ हो सकता था। उनको आज अपनी शक्ति में विश्वास था।

पर किसी प्रकार सभा की कार्रवाई आरम्भ हो सकी और मैंने बोलना शुरू किया।

क़रीब घंटे भर बाद इशारा हुआ। कुछ लोग 'लिबर्टी' (स्वतन्त्रता) कहकर चिल्ला पड़े। एकाएक और एक व्यक्ति कुर्सी पर चिल्लाता हुआ कूद पड़ा। बस, इसी पर स्वतंत्रता के पुजारियों ने अपना काम शुरू कर दिया।

कुछ ही क्षणों में वहाँ मार-पीट और गुत्थम-गुत्थी का एक पैशाचिक दृश्य खड़ा हो गया। बोतलों के टुकड़े इस तरह उड़ रहे थे मानो गोलियों की बौछार चल रही हो। सैकड़ों कुर्सियाँ टूट गईं। दरवाज़ों के शीशे चकनाचूर हो गये। सब पागलों की तरह लड़ रहे थे, अपने-पराये का ज्ञान भी नहीं रह गया था।

मैं जहाँ था वहीं खड़ा-खड़ा अपने नवयुवकों के करिश्मे देख रहा था।

रणचंडी का यह नृत्य शुरू होते ही हमारे रणबाँकुरे गाज की

तरह उन पर टूट पड़े। आठ-आठ की टुकड़ियाँ बनाकर ये हमले कर रहे थे और जिधर टूटते उधर मैदान साफ़ कर देते। मैं इनके असाधारण कृतित्व को परख रहा था। पाँच मिनट के अन्दर शायद ही कोई आदमी ऐसा रह गया हो जो ख़ून से लथपथ न दिखाई पड़ता हो। मुझे अपने लोगों पर बड़ा दर्प हो रहा था। इन लोगों ने बात की बात में मानो सभा-भवन में झाड़ू-सी लगा दी। इनके मुखिया मारिस और हेस (जो अब मेरे प्राइवेट सेक्रेटरी हैं) थे। ये सभी घायल हो चुके थे पर जब तक दम में दम था, ये हटनेवाले नहीं थे।

कोने की तरफ़ एक अच्छी ख़ासी भीड़ अब भी जी-जान से मुक़ाबिला कर रही थी। एकाएक पिस्तौल की दो गोलियाँ प्लेटफ़ार्म को लक्ष्य कर चलाई गईं। यह शिनाख़्त करना असम्भव था कि गोली किसने चलाई। पर मेरे साथी फिर नये उत्साह से उन पर टूट पड़े। और जब तक उनमें का एक भी अन्दर रह गया तब तक हमला जारी रक्खा। कुछ पुराने दिनों की याद आई जब हम लाम पर थे। मन में एक अजीब गुदगुदी-सी हुई।

लगभग पचीस मिनट में यह दंगा-फ़साद शान्त हुआ। हर मैन एसर उस दिन सभापति थे। उन्होंने घोषित किया—"सभा जारी रहेगी। वक्ता महाशय बोलें।" मैं बोल चला।

सभा समाप्त होने पर ठीक उसी वक़्त एक पुलिस का अफ़सर उत्तेजित-सा दौड़ता हुआ हॉल में घुसा और चिल्लाकर बोला—'सभा भङ्ग कर दी गई।' मैं हँसी न रोक सका।

फिर १९२३ के शरत्काल तक म्यूनिच पोस्ट ने श्रमिकों की घूँसेबाज़ी का नाम तक न लिया।

———

# आठवाँ परिच्छेद

## बलवान् का बल अकेले में ही प्रकट होता है

कोई नागरिक जब ट्रेड यूनियन या इसी तरह की किसी अन्य संस्था में सम्मिलित हो जाता है तो समझता है कि अब मैं बलवान् हो गया। लोग समझते हैं कि किसी समूह या दल में मिल जाने से सम्मिलित शक्ति अकेले-दुकेले से कहीं ज्यादा बढ़ जाती है। पर ऐसा समझना अधिकांश में भूल है।

किसी यूनियन, पार्टी या दल की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? किसी एक आदमी के दिमाग़ से कोई मौलिक योजना या विचार निकलता है। इस योजना को वह किसी विशेष बुराई या अन्याय को दूर करने के लक्ष्य से निकालता है। फिर इस योजना को वह आन्दोलन का रूप देता है। तब और लोग भी इसमें मिलने लगते हैं।

बस इसी प्रकार प्रत्येक यूनियन (संघ), दल या पार्टी आदि की उत्पत्ति होती है।

एक बार जब आन्दोलन की शक्ल में वह मौलिक विचार आ जाता है तब औरों का भी, जो कि उसी उद्देश्य-सिद्धि की आकांक्षा रखते हैं और इसके लिए संघर्ष करते रहे हैं, यह धर्म हो जाता है कि उसी आन्दोलन में अपने को मिला दें और इस प्रकार उसका बल बढ़ावें। इस प्रकार उद्देश्य-सिद्धि में सरलता हो जाती है।

पर एसा बहुधा दो कारणों से हो नहीं पाता। इसके पहले कारण को तो एक प्रकार से घातक कहा जा सकता है और दूसरा भी कम दुःखद नहीं है।

( १ ) संसार में कोई भी महान् कृत्य, महान् सुधार या महान् राजनीतिक परिवर्तन तभी होता है जब एक अर्से से असंख्य जन-समुदाय उसके लिए लालायित और इच्छुक रहता है; इसके लिए सहस्रों व्यक्ति प्रयत्नवान् भी रहते हैं और इनमें कोई एक जो सबसे प्रबल और अधिक प्रयत्नशील होता है वही विजयी माना जाता है और तब आन्दोलन का भार उसी को सौंप दिया जाता है।

यह सब तो बिलकुल स्वाभाविक है, पर इसमें घातक बात तभी पैदा होती है जब एक साधारण उद्देश्य-सिद्धि के लिए सभी लोग अलग-अलग रास्ते से उसी लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करने लगते हैं। जब सब लोग एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाने लगते हैं तब बड़ा गड़बड़ होता है।

इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। किसी महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए जहाँ विविध नेताओं ने अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना रागवाला ढंग अपनाया है वहाँ सभी चौपट हो गया है। पर अतीत के इस कटु अनुभव से जिसने लाभ उठाया है वह सफल भी हुआ है।

अब जर्मनी के प्रश्न को ही देखिए। एक तरफ़ आस्ट्रिया और प्रशिया, दूसरी ओर हब्सबर्ग और होहेन्जोलर्न के शाही घराने—ये दोनों ही दल जर्मनी का कल्याण चाहते पर अपने-अपने भिन्न उपायों से। इन दोनों को शुरू से ही एक होकर चलना उचित था। इनमें से जो प्रबल था उसी को इस आन्दोलन का भार सौंप देना था। आस्ट्रियन विधि से कभी जर्मन-साम्राज्य नहीं बन सकता था।

पर जर्मन-साम्राज्य का निर्माण कैसे सम्भव हुआ? जब लाखों जर्मन जिस बात को चाहते थे और जब घरेलू और आपस के झगड़ों को मिटाकर और एकमत होकर ये सब अग्रसर हुए है तभी सफलता हुई है। जर्मनी का राजमुकुट कोनीग्राज़ के मैदान में जर्मनों के सम्मिलित रक्त से जीता गया था न कि पेरिस के आस-पास की लड़ाइयों से,

जैसा कि अकसर कहा जाता है। जर्मन-साम्राज्य की नींव सम्मिलित उपायों या सम्मिलित चेष्टा के फलस्वरूप नहीं पड़ी थी। प्राधान्य के लिए एक भीषण संघर्ष चल रहा था (कभी-कभी अनजान में भी) और इसमें प्रशिया की विजय हुई थी।

इसलिए इसमें खेद करने की कोई बात नहीं है कि कई आदमी एक ही फल की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न रास्तों से दौड़ रहे हैं। क्योंकि इस तरह पता तो लग जाता है कि इस 'रेस' में कौन सबसे ज़बर्दस्त और तेज़ है।

दूसरा कारण घातक ही भर नहीं, नितान्त दयनीय भी है। इसकी उत्पत्ति तब होती है जब एक ही उद्देश्य के लिए संघर्ष करनेवाले विभिन्न व्यक्तियों या दलों में आपस में ईर्ष्या-द्वेष, कपट और चोरी आदि के भाव आ जाते हैं। ये सचमुच बड़ी दुःखद बातें हैं। यह बड़े दुःख की बात है कि कोई आन्दोलन तो मानव-जाति के कल्याण और उन्नति के लिए चलाया जाय और उसके लिए प्रयत्न करनेवाले आपस ही में छल-कपट करने लगें, यहाँ तक कि एक दूसरे के जानी दुश्मन तक हो जायँ।

यह सब होता यों है। जहाँ कोई बड़ा आन्दोलन किसी महत् उद्देश्य को लक्ष्य कर उठाया गया कि इसके लिए लड़ने को लोग पहुँचने लगते हैं। ये उस आन्दोलन में एक होकर काम नहीं करना चाहते। ये उसी का प्रोग्राम चुराकर अपनी नई पार्टी बनाते हैं और कहते हैं कि हम भी उसी उद्देश्य के लिए लड़ रहे हैं।

सन् १९१८-१९ तक में अपने को 'जातीय' कहनेवाले कई दल बने-बिगड़े। पर यह तो होना ही था। सन् १९२० तक यह स्पष्ट हो गया कि 'नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी' ही सबसे प्रबल दल है और उसी की विजय रही। कुछ लोगों ने अपने आन्दोलन को बन्द कर उसे प्रबलतर आन्दोलन में मिला दिया। इससे बढ़कर उक्त आन्दोलनों के संचालकों की सचाई का और क्या प्रमाण हो सकता है?

ठीक यही बात न्यूरेम्बर्ग की जर्मन सोशलिस्ट पार्टी ने की थी। इसके रचयिता जूलियस स्ट्रीचर थे। इनका और हमारा उद्देश्य समान था। पर जब स्ट्रीचर को नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी की अधिकाधिक शक्ति और संगठन का विश्वास हो गया तो उसने अपना दल ही तोड़ दिया और अपने सब लोगों को प्रबलतर आन्दोलन में मिल जाने को कहा। सिद्धान्त रूप से यह एक आदर्श बात हुई पर किसी आदमी के लिए ऐसा कर सकना कठिन होता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार में जब-जब कोई बड़ा काम हुआ है, किसी एक आदमी के कृतित्व के बल से हुआ है। विभिन्न दलों के आपस में मिल जाने से कभी कोई काम नहीं हुआ। ये जब कभी आपस में मिलते भी हैं तो उसी क्षण से फूट और वैमनस्य का बीज लेकर मिलते हैं जो आगे चलकर भीषण मतभेद के रूप में प्रकट होता है, और इसका परिणाम यह होता है कि शुरू से अब तक का किया-धरा सब चौपट हो जाता है। संसार की किसी नई और महान् विचार-धारा का चलन चलाना या पुरानी घातक रूढ़ियों को जड़ से उखाड़ फेंकना, यह सब सम्मिलित दलों के बूते के बाहर की बातें हैं। इनको तो कोई अकेली ही शक्ति कर सकती है।

इसलिए जातीय राष्ट्र का निर्माण अकेले उस आन्दोलन की प्रबल शक्ति-द्वारा ही हो सकेगा जो अन्य सब आन्दोलनों को पस्त कर इस काम को करेगा। यह कभी विविध आन्दोलनों या जातीय कार्य-कर्त्ताओं के सम्मिलित उद्योग में विश्वास नहीं करेगा।

---

# नवाँ परिच्छेद

## सोशलिस्ट संगठन पर कुछ विचार

प्राचीन राष्ट्र की नींव के तीन आधार थे—राष्ट्र का राजतंत्र रूप, शासक संस्थायें और सैन्य। सन् १९१८ की क्रांति ने इन तीनों का अन्त कर दिया। सबसे पहले राजतंत्र का लोप हुआ, फिर सेना विशृंखलित हो गई। और सबके अन्त में शासनकारिणी संस्थायें दल-बन्दी के दलदल में फँसकर चौपट हो गईं।

इस प्रकार राष्ट्र की शक्ति के तीन मुख्य उद्गम नष्ट हो गये। राष्ट्र की शक्ति और अधिकार के लिए निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक होती हैं—

सबसे पहले **जनमत** का राष्ट्र के पक्ष में होना आवश्यक है। पर केवल जनमत के आधार पर कोई राष्ट्र नहीं टिक सकता। वह सदा दुर्बल, अस्थायी और अनिश्चित दशा में रहेगा। दूसरी बात है **शक्ति**। जनमत का सहयोग और शक्ति, इन दोनों का मेल जिस राष्ट्र में होता है वह एक काल तक टिकता है। पर इससे भी सुदृढ़ आधार होता है **परम्परा** का। जिस राष्ट्र में इन तीनों का सम्मिश्रण और पूर्ण सहयोग होता है उसका कभी कोई कुछ बिगाड नहीं सकता। उसको अमर और दुर्जय समझा जा सकता है।

यह एक ध्यान देने की बात है कि जन-समूह का अधिकांश अर्थात् मध्यवर्ग कभी किसी काम में अगुआ नहीं होता। जब उच्च और निम्नवर्ग में कोई भीषण संघर्ष होता है तब ये जिसका पक्ष प्रबल देखते हैं उसी ओर झुक जाते हैं। यदि श्रेष्ठवर्ग के लोगों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर आती है तो ये उनके साथ हैं और यदि निम्नवर्ग के लोग ऊपर उठते हैं तो ये तुरन्त उनके हिमायती बन जाते हैं। पर ये स्वयं संघर्ष के पास फटकते तक नहीं।

महायुद्ध के अन्त में देश की स्थिति यों थी। जाति का मध्य भाग कर्त्तव्य-ज्ञान से विवश होकर अपना रक्त बहा चुका था। जाति के सर्वश्रेष्ठ वर्ग के लोग अलौकिक वीरता का परिचय देकर काम आ चुके थे। निम्नतम वर्ग क़रीब-क़रीब बिलकुल अछूता बच गया था। ये लोग उस समय के युद्ध के क़ानून (Article of War) के प्रभाव से बच गये थे। ये नितान्त मूर्खतापूर्ण क़ानून इनके साथ वैसे ही बर्ते भी गये थे जैसा कि चाहिए।

सावधानी से सुरक्षित रक्खे हुए इसी निम्नवर्ग ने क्रान्ति की! और इस क्रान्ति में इसको सफलता इसी कारण मिली कि उच्चवर्ग के सभी लोग युद्ध में बलिदान हो चुके थे और अब इनको कोई रोकनेवाला न था।

ये मार्क्सवादी स्वेच्छाचारी अधिक दिन तक लोकमत को अपने अनुकूल रखने की आशा नहीं कर सकते थे। फिर भी उस नवजात रिपबलिक को लोकमत की आवश्यकता थी ही। किसी भी मूल्य पर उन्हें लोकमत अपने पक्ष में करना था; क्योंकि चार दिन की चाँदनी के बाद सैनिकों के पैर-तले अपने को रौंदवाने का शौक़ उनको नहीं था। उनका अभिप्राय राष्ट्र को शृंखलित बनाना नहीं, वरन् जो कुछ भी सुव्यवस्था बच रही थी उसे भी चौपट करना था। जर्मन रिपबलिक में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना उनका लक्ष्य नहीं था। वे इसको लूटना चाहते थे।

इसी बीच शान्ति और सुव्यवस्था की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को उद्यत नवयुवक जर्मनों का एक दल तैयार हो चला। अपनी मातृभूमि के विनाशकों का संहार करने के लिए ये जाति के स्वयंसेवक कटिबद्ध होकर आये। ये क्रान्ति के शत्रु थे।

इधर अन्तर्राष्ट्रीय यहूदियों ने भी परिस्थिति का ठीक अन्दाज़ा कर लिया। उन्होंने भाँप लिया कि रूस की भाँति बोलशेविज़्म के रक्तस्रोत में जर्मनी को भी बहा देने का समय अभी नहीं आया। समस्या यह थी कि क्या युद्ध से लौटे हुए सैनिक इसे सहन करेंगे?

कुछ सप्ताह जर्मनी की क्रान्ति का बाह्य रूप बड़ा नरम रहा। क्रान्तिकारियों को सदा यह डर बना रहता था कि कहीं फ़ौजवाले उनके टुकड़े-टुकड़े न कर डालें। यदि किसी मामूली टुकड़ी का सरदार चाहता तो संगीनों से ही इनको तहस-नहस कर इनके लाल झंडे की धज्जियाँ उड़ा देता। यहूदी उत्तेजकों को सबसे ज्यादा डर इसी बात का था।

पर यह क्रान्ति शान्त और व्यवस्थापूर्ण उपायों से तो हो नहीं रही थी। यहाँ तो दंगा-फ़साद और लूट-पाट का बाज़ार गर्म था। और क्रान्ति की यह गति इसके संचालकों को पसन्द भी नहीं थी; क्योंकि इसमें उनकी जान का खतरा था।

ज्यों-ज्यों सोशल डेमोक्रेसी की शक्ति बढ़ती गई त्यों-त्यों क्रान्ति का पाशविक रूप घटता गया।

इसका फल यह हुआ कि क्रान्तिकारियों के दो दल हो गये—एक तो रक्तपात और आतंकवादी और दूसरा शान्तिवादी। इसका मुख्य कारण यह था कि सेना युद्ध-स्थल से लौट रही थी और इनको निश्चय नहीं हो पा रहा था कि क्रान्ति के प्रति सेना का क्या रुख होगा। और क्रान्तिकारियों के ये दोनों दल परस्पर विरोधी भी थे। ऐसे मौक़े पर मध्यवर्ग झट शान्तिवादी दल की ओर हो गया।

इसका फल यह हुआ कि क्रान्ति के शत्रुओं ने इसके इस रूप के विरुद्ध लड़ना छोड़ दिया और साथ ही उन लोगों को भी दबाना शुरू किया जो स्वतः इसके शत्रु थे। इसका अन्तिम फल यह भी हुआ कि प्राचीन राष्ट्र के हिमायती जो कुछ भी विरोध इस क्रान्ति का कर सकते थे वह सदा के लिए दब गया।

अब हम जब सोचते हैं कि यह क्रान्ति किन कारणों से सफल हो सकी तो दो बातें सामने आती हैं—

(१) हम लोगों में कर्त्तव्य-बुद्धि और आज्ञापालन का भाव लुप्त हो गया था।

( २ ) जिन दलों के ऊपर राष्ट्र की रक्षा का भार समझा गया था वे बहुत दब्बू और निकम्मे हो रहे थे।

इनमें पहला कारण हमारे राष्ट्र की अनुचित शिक्षा-पद्धति के कारण प्रकट हुआ। इस कुशिक्षा के फल से ही लोग लक्ष्यभ्रष्ट हो गये थे। उपाय ही लक्ष्य माना जाने लगा था। राष्ट्र भी स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है। यह भी समाज के अस्तित्व और कल्याण के लिए एक उपाय-मात्र है।

क्रान्ति इसी लिए सफल हुई कि हमारे लोग और हमारी सरकारें सब प्रकार से लक्ष्यभ्रष्ट हो गई थीं, इस कारण उनमें दुर्बलता और बनावटीपन आगया था। कोरी बातें रह गई थीं और कुछ नहीं।

दूसरे कारण के सम्बन्ध में यह कहना है कि उन दिनों पार्टियाँ या दल केवल मध्यवर्गवालों के ही थे और ये समझते थे कि सिर्फ़ लिखा-पढ़ी और दिमाग़ी कसरत से ही अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेंगे। जब इनके विरोधी बहुत पहले से इन उपायों पर भरोसा करना छोड़ चुके थे और खुल्लमखुल्ला पशुबल का प्रयोग करने पर तुले हुए थे तब यह मध्यवर्गवालों की मूर्खता ही कही जायगी।

मध्यवर्ग दलवाले नई परिस्थिति में भाग लेना तो चाहते थे पर बातों और कोरी ग़प्पों को छोड़कर उनके पास कोई दूसरा अस्त्र न था।

उस समय मार्क्सवाद और इसके द्वारा भड़काई हुई जनता का विरोध करनेवाला यदि कोई दल था तो वह 'फ़्री कोर' (आज़ाद दल) था। इसके बाद फिर आत्मरक्षा के संगठित दल और अन्त में परम्परा ने इसका विरोध किया।

राजनीतिक संकल्प और पशुबल की सहायता से ही मार्क्सवाद को सफलता मिल रही थी। ठीक इसी बात का अभाव जातीय जर्मनी में था। ये राजनीतिक आकांक्षा और पशुबल की सम्मिलित शक्ति से काम नहीं ले सकते थे। इन तथाकथित 'जातीय' दलों की महत्त्वाकांक्षा कुछ भी रही हो पर कोरे शब्दों के सिवा इनके पास कोई अस्त्र नहीं था। बाज़ार की सड़कों पर बात से काम नहीं चल सकता था।

इधर रक्षा-संघ वालों (Defence associations) के पास पशुबल की कमी न थी। सड़कों पर तो ये बादशाह थे। पर इनके पास कोई राजनीतिक आदर्श या विचार नहीं था जिससे ये जातीय जर्मनी का कुछ उपकार कर सकते ।

यह यहूदियों की करामात थी कि एक ओर तो मध्यवर्गवालों को कोरा बुद्धिवादी और दूसरी ओर रक्षा-संघवालों को बिना किसी राजनीतिक विचार का बना दिया। इस प्रकार दोनों को उल्लू बनाकर बीच से अपना काम निकाला। क्रान्तिकारी दलवाले कोई नई परम्परा स्थापित करने में असमर्थ थे। पर बात तो यह थी कि पुरानी परम्परा का अब कोई महत्त्व ही नहीं रह गया था। प्राचीन साम्राज्य के पतन और उसके गौरव के सभी चिह्नों के मिट जाने से परम्परा का कोई मूल्य ही नही रह गया। इसी से राष्ट्र का कोई रोब-दाब नहीं रह गया था।

राष्ट्र का दूसरा आधार—शक्ति—भी लुप्तप्राय था। राष्ट्र की प्रधान शक्ति—सेना—को तो उन्होंने पहले ही विशृंखलित कर दिया था। यहाँ तक कि सेना के बचे-खुचे सामान अब क्रान्तिकारियों के काम आ रहे थे। राष्ट्र ऐसे सैनिकों पर भरोसा नहीं कर सकता था जिनके दिमाग़ में मार्क्सवादी विष घर कर गया हो। ये सिपाही अब लड़ाई को आठ घंटे रोज़ की मज़दूरी के रूप में समझते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रान्तिकारियों को सबसे बड़ा भरोसा जनमत का था। और अकेले लोकमत के सहयोग से ये अपना दबदबा जमाना चाहते थे।

प्रत्येक जाति के तीन विभाग किये जा सकते हैं। पहले में उच्चतम श्रेणी के लोग आते हैं जो सब प्रकार से श्रेष्ठवर्ग के होते हैं। आत्मत्याग और साहस इस वर्ग का प्रधान गुण होता है। दूसरे में वे निम्नतम वर्ग के लोग हैं जो हद दर्जे के स्वार्थी और पतित होते हैं। इन दोनों सिरों के बीच जाति का तीसरा वर्ग है जो संख्या में सबसे अधिक होता है पर जिसमें न भलाई करने का माद्दा होता है न बुराई का।

जिस जाति में लड़ने की शक्ति नहीं होती वह किसी नये या महान् सिद्धान्त का सृजन भी नही कर सकती। ये दोनों बातें साथ-साथ ही चलती हैं। जो आन्दोलन अपने सिद्धान्तों की रक्षा और अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए लड़ नहीं सकता वह कभी सफल नहीं हो सकता। और जो लड़ नहीं सकता वह कोई महान् आदर्श भी नहीं उपस्थित कर सकता।

फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति ने सफलता का यह रहस्य खोज निकाला था। वह इसी लिए सफल हुई कि उसने एक महान् आदर्श को जन्म दिया था। रूस की क्रान्ति के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। फ़ैसिज़्म की तो पूरी सफलता ही इसी कारण से हुई कि उसने सारी जाति को एक नया जीवन दे दिया।

रीख़स्वेह्र के भली भाँति स्थापित हो जाने के बाद मार्क्सवाद को अपनी प्रभुता बनाये रखने भर की शक्ति क्रमशः प्राप्त हो गई। और तब इन्होंने जातीय रक्षक संघों से यह कहकर किनारा कसना शुरू किया कि अब ये बेकार हैं। ये संघ इनको ख़तरनाक जान पड़ते थे।

नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी की स्थापना के बाद पहले-पहल एक ऐसा आन्दोलन प्रकट हुआ जो मध्यवर्ग की पार्टियों की भाँति अतीत गौरव को फिर से लाना नहीं बल्कि वर्तमान अर्थशून्य राष्ट्र के स्थान पर एक नवीन जातीय राष्ट्र की स्थापना करना चाहता था। और इसके लिए वह बड़ा से बड़ा त्याग और बलिदान करने को प्रस्तुत था।

विश्व के इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है कि शासकदल किसी विश्व-सिद्धान्त पर आधारित आतङ्कवाद को दबा नहीं सका है। यह तो तभी दबाया जा सका है जब इसके विरोध में कोई दूसरा विश्व-सिद्धान्त उदय हुआ है, जो इससे भी अधिक साहसपूर्ण और कृत-संकल्प हो।

मार्क्सवाद राष्ट्र को ध्वंस किये दे रहा है। ९ नवम्बर सन् १९१८ में राष्ट्र ने मार्क्सवाद को आत्म-समर्पण कर दिया। अब यह सम्भव नहीं कि कल ही वह इसके मुक़ाबिले के लिए खड़ा हो जाय। ख़ास-कर जब मध्यवर्ग के वे निठल्ले लोग जो मंत्रियों के पद पर आसीन

हैं यह राय प्रकट कर रहे हैं कि श्रमिकों के विरुद्ध कोई कार्रवाई करना ठीक नहीं। 'श्रमिकों' से उनका मतलब मार्क्सवाद से था।

मैं कह चुका हूँ कि अपने आन्दोलन की सभाओं को हुल्लड़बाज़ी से बचाने के लिए मैंने 'तूफ़ानी टुकड़ी' (Storm detatchment) के नाम से एक दल का संगठन किया था। उस समय इसका काम सिर्फ़ बैठकों में शान्ति-रक्षा का था। इनको सिर्फ़ हमला करने की शिक्षा दी गई थी। पर इनका उद्देश्य खून-खराबी नहीं था। इनका उद्देश्य था खून-खराबी से उस महान् आदर्श की रक्षा करना जिसके लिए यह आन्दोलन आरम्भ हुआ था। इनका यह भी लक्ष्य नहीं था कि उस राष्ट्र की रक्षा करें जो अपनी जाति की रक्षा नहीं कर सका था। पर जाति के शत्रुओं से उसकी रक्षा करना इनका कर्त्तव्य अवश्य था।

तूफ़ानी टुकड़ी के सिवा इस आन्दोलन के और भी कई अंग थे; जैसे—प्रचार, प्रेस, विज्ञानशाला आदि।

तूफ़ानी टुकड़ी को ऐसी शिक्षा दी गई थी जिससे इसके सदस्य शरीर से सबल और कष्ट सहने योग्य हों। व्यवस्था और आज्ञापालन—'डिसिप्लिन'—का ध्यान सबके ऊपर रक्खा गया था।

पर ये उन रक्षा-संघों से बिलकुल अलग थे। उनसे इनका कोई सम्पर्क इसलिए नहीं रक्खा था कि, मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि, निजी संस्थायें जाति की रक्षा का भार तब तक नहीं ले सकतीं जब तक राष्ट्र की सेना का सहयोग उन्हें प्राप्त न हो। फिर ये रक्षा-संघ-वाले स्वयं-सेवक ही तो हैं। इन्हें किसी काम के लिए बाध्य तो किया नहीं जा सकता; क्योंकि आज्ञापालन न कर सकने पर इनको दण्ड नहीं दिया जा सकता।

यदि मान भी लें कि एक ऐसा दल हमने तैयार किया जो राष्ट्र की रक्षा के काम में आ सकता है पर जब राष्ट्र के कर्णधार—जो इसको सब तरह से नष्ट-भ्रष्ट ही कर रहे हैं—इनकी आवश्यकता ही नहीं समझें तो यह उनके किस काम का।

क्या यह किसी भी राष्ट्र के लिए लज्जा-जनक नहीं है कि युद्ध में पचासी लाख सुशिक्षित सैनिकों की बलि देकर और उनमें से कुछ लौटनेवालों को बेकार क़रार देकर उन्हें विश्व के उपहास की सामग्री बनावे, और दस हज़ार लोगों को एक कोने में युद्ध-शिक्षा देने के लिए तैयार हो? क्या इस बात की कोई आशा कर सकता है कि ऐसे राष्ट्र के लिए कोई सिपाही तैयार करेगा जिसने अपने सर्वश्रेष्ठ सैनिकों पर थूका और उन्हें हर तरह से अपमानित किया? या कभी इस राष्ट्र ने सेना के खोये हुए गौरव को फिर से प्राप्त करने का कोई प्रयत्न किया है? और फिर जिन लोगों की बदौलत पुरानी सेना की यह दुर्गति हुई वही राज्य के सर्वोच्च पदों पर आसीन हैं। लिपज़िग में इन्हीं लोगों ने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली नीति को पुष्ट किया था। अब चूंकि शक्ति आज उन लोगों के हाथ में है जिनकी बदौलत जर्मनी का अभूतपूर्व अपमान हुआ और जो लोग अब क्रान्ति करा रहे हैं, इसलिए कोई कारण नही कि इन्हीं लोगों की शक्ति बढ़ाने के लिए नये सैनिक तैयार किये जायँ।

इन्हीं कारणों से तूफ़ानी टुकड़ी का सैनिक संगठन से कोई वास्ता न था। उसका एकमात्र काम था आन्दोलन की रक्षा करना।

फिर यह कोई गुप्त संस्था भी नही थी जो लुक-छिपकर अपना काम करती हो और कुछ चुने हुए लोगों की गुप्त हत्या जिसका ध्येय हो। हमें मार्क्सवाद का अन्त करना है। यह काम हम लुक-छिपकर न करेंगे। हम सामने से ज़बरदस्त वार करेंगे।

गुप्त संस्थाओं में एक ख़राबी यह होती है कि इसके अनुयायी उद्देश्य के महत्त्व को समझ ही नही पाते। दो-एक हत्या कर लेने से ही काम बन जाने का उनका ख़याल होता है। किन्तु इस प्रकार की चेष्टायें घोर मूर्खतापूर्ण होती हैं।

सन् १९१९-२० में कुछ लोगों की धारणा ऐसी थी कि गुप्त संस्थाओं के सदस्य, कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के अनुकरण पर कुछ ख़ास

लोगों की हत्या कर देश का बदला चुकावेंगे। पर यह उनकी मूर्खता थी; क्योंकि मार्क्सवादियों की विजय कुछ ख़ास नेताओं के बुद्धिबल से नहीं बल्कि मध्यवर्गवालों की अयोग्यता और कायरता के कारण हुई थी।

अब जब यह तूफ़ानी टुकड़ी न तो सैनिक संगठन है और न गुप्त संस्था तो यह है क्या ? इसका विकास इन सिद्धान्तों के आधार पर होना था--

(१) इसकी शिक्षा सैनिक सिद्धान्तों के अनुसार न होकर पार्टी की आवश्यकताओं के अनुसार होगी। इन्हें ड्रिल, परेड न कराकर घूँसेबाज़ी और जुजत्सू की शिक्षा दी जायगी। निशानेबाज़ी से इन्हें मैंने हमेशा अच्छा माना है।

(२) यह गुप्त संस्था न समझी जाय। इसके लिए इनकी एक ख़ास वर्दी होगी जिससे सब इन्हें आसानी से पहचान सकें। साथ ही यह वर्दी की प्रथा आन्दोलन में भी सहायक होगी।

(३) तूफ़ानी टुकड़ी की रचना और संगठन पुरानी सेना के अनुकरण के ढंग का न होगा। सजावट, साज-सामान और पोशाक़--इनकी सभी बातें पुरानी फ़ौज से अलग ढंग की होंगी।

तीन घटनायें ऐसी हुईं जो आगे चलकर तूफ़ानी टुकड़ी के विकास में बड़ी सहायक हुईं--

(१) १९२२ की गर्मियों में 'रिपबलिक रक्षा-क़ानून' के विरोध में सभी देशभक्त संस्थाओं ने प्रदर्शन किया। साठ हज़ार जनता के सामने बोलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इसके प्रबन्ध की सफलता का श्रेय इस टुकड़ी को था। इस अवसर पर पहले-पहल म्यूनिच की सड़कों पर जातीयतावादियों ने परेड की थी।

(२) उसी साल अक्टूबर में मैं कोबर्ग की एक सभा में बुलाया गया था और मुझे अपने कुछ साथियों को लाने की स्वीकृति मिली थी। अपने साथ मैं टुकड़ी के आठ सौ आदमी ले गया। हम लोग स्पेशल ट्रेन से बवेरिया के उस छोटे शहर में पहुँचे।

स्टेशन पर मुझसे कहा गया कि मैं अपने झंडे उड़ाता हुआ और अपना बैंड बजवाता हुआ शहर में नही घुस सकता। मैंने इसका तीव्र प्रतिवाद किया और स्वागतकारिणी समिति की इच्छा के विरुद्ध झंडा फहराता और बैंड बजवाता हुआ आगे बढ़ा। 'खूनी,' डाकू', 'चोर' आदि नारों से हमारा स्वागत किया गया। सभा-स्थल पर पहुँचने पर पुलिस ने भीड़ का पीछे चलना रोक दिया पर हमने ज़बरन् यह रोक हटवा दी। अब हम लोग भीड़ के सामने थे। कुछ ढेले चले। फिर हम लोगों ने भी दस मिनट तक दाहने-बायें खूब हाथ साफ़ किये। मैदान साफ़ हो गया।

रात में भी कोई खास गड़बड़ी नहीं हुई। पर दूसरे दिन कोबर्ग-वालों का डर दूर हो गया था। अब वे लोग हमारे अनुकूल थे।

(३) १९२३ के मार्च में हमें अपनी टुकड़ी के संगठन में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। फ्रांस ने रूर प्रान्त पर अधिकार कर लिया था। यद्यपि यह कोई अनहोनी बात नही थी, पर हमको यह निश्चय हो गया कि अब दब्बूपन से काम न चलेगा, सामने मैदान में आना होगा और रक्षा-संघवालों को भी कुछ कर दिखाना होगा।

अतः हमने १९२३ की गर्मियों में अपनी टुकड़ी को सैनिक संगठन का रूप दे दिया।

पर ऐसा उस समय की भीषण लज्जा-जनक स्थिति के कारण ही करना पड़ा।

सन् १९२५ में नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी का संगठन फिर से हुआ और इसमें तूफ़ानी टुकड़ी की रचना हमारे पिछले सिद्धांतों के अनुसार ही हुई। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व-सिद्धांत के अनुसार लड़ना और आन्दोलन की रक्षा करना ही रहेगा। इसकी सदस्य-संख्या १,००,००० की होगी पर यह गुप्त संस्था का रूप कभी नही लेगी।

———

# दसवाँ परिच्छेद

## फ़ेडरलिज़्म (संघ-शासन) का ढोंग

१९१९ के जाड़ों में, और उससे भी ज़्यादा १९२० के वसन्त में, हमारे नये दल को एक समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ा। यह प्रश्न तो युद्ध के समय सन् १९१५ से ही उठा था और मैं पहले इसकी चर्चा भी कर चुका हूँ। अँगरेज़ और फ़्रेंच लोग भी बवेरिया को प्रशिया के विरुद्ध भड़का रहे थे। युद्ध का सारा दोष प्रशिया के सर मढ़ा जा रहा था। और यह प्रोपेगैंडा सफल भी हो रहा था। इधर हमारी सरकार और नेताओं के जूँ तक नहीं रेंगती थी। इतना बड़ा अनर्थ किया जा रहा था और कोई चूँ तक करनेवाला नहीं था। पर इस असावधानी और अकर्मण्यता का जो फल भी भोगना पड़ा उसकी मिसाल जर्मनी के इतिहास में नहीं है।

यह कहना भूल होगी कि इसका कारण एकमात्र शत्रु का प्रोपेगैंडा ही था। हमारे संगठनकर्त्ता लोग, जो कि सारे साम्राज्य को बर्लिन में केन्द्रीकरण की एक मूर्खतापूर्ण पद्धति-द्वारा चूसे डाल रहे थे, इसके लिए कम उत्तरदायी न थे। इन्हीं कारणों से अन्य प्रान्त प्रशिया के विरोधी हो रहे थे।

युद्ध-समितियों और युद्ध-संगठन की आड़ से यहूदी जर्मन-जाति का रक्त-शोषण किये डालते थे, पर वे इस बात को भली भाँति समझते थे कि जनता बिगड़ खड़ी होगी और फिर उसको सँभालना मुश्किल होगा। यहूदी परले सिरे के धूर्त होते थे। उन्होंने ऐसे मौक़े पर बवेरियावालों को प्रशिया के विरुद्ध भड़का दिया, जिससे कि ये आपस

में ही मर मिटें। जनता की क्रोधाग्नि को कोई चारा चाहिए। कर्ट इज़नर नाम का एक अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी ख़ासकर इसी काम के लिए नियुक्त किया गया। उसने बड़ी चालाकी से बवेरियावालों को प्रशिया के विरुद्ध भड़का दिया। उसका मतलब था जर्मनी में घर की फूट पैदा कर एक प्रान्त को दूसरे से लड़ा देना जिससे सब निर्बल हो जायँ और सारा देश आसानी से बोलशेविज़्म का शिकार बन सके। ये बोलशेविक उत्तेजक सारी बुराइयों की जड़ इस प्रशियन युद्धवाद को ही बता रहे थे। इसे रिपबलिक का शत्रु और समाजवाद के लिए घातक आदि कहकर सारे देश को प्रशिया के विरुद्ध भड़का रहे थे। कम्यूनिस्ट पार्टीवाले भी कर्ट इज़नर के साथ मिलकर काम करने लगे और उनको अच्छी सफलता मिल रही थी।

मेरा विचार है कि प्रशिया-विरोधी इस प्रोपेगैंडा से लड़ने जाकर इन यहूदियों का सबसे अप्रिय कार्य मैंने अपने हाथ में लिया। अर्द्ध कम्यूनिस्ट काल में जो सभायें म्यूनिच में हो रही थीं उनमें प्रशिया के विरुद्ध इतनी प्रबल भावना हो गई थी कि उनकी सभा में संयोग से यदि कोई उत्तर का जर्मन पहुँच जाय तो उसके प्राण का भय था। इन सभाओं में नारे लगते—'प्रशिया से दूर रहो', 'प्रशियावालों का अंत करो', 'प्रशिया से लड़ाई छेड़ दो'। एक विचित्र कहावत चल पड़ी थी—'एक बवेरियन होकर मरना, प्रशियन की तरह सड़ने से कहीं अच्छा है।'

पर अब इस आन्दोलन के विरुद्ध मैं अपनी पूरी शक्ति से लड़ने लगा। और मुझे इस बात का दर्प है कि अपने बवेरिया के अनुयायियों की सहायता से ही मैंने धीरे-धीरे, पर दृढ़ता से, इस मूर्खता-मिश्रित षड्यंत्र का अन्त कर दिया।

यह स्पष्ट है कि उस प्रशिया-विरोधी आन्दोलन का 'फ़ेडरलिज़्म' (संघ-योजना) से कोई मतलब नहीं था। संघ-स्थापन का काम इस तरह नहीं होता कि कुछ प्रान्तों को तोड़कर किसी एक प्रान्त को

उठाया जाय। पर जो सच्चा संघवादी होगा वह बिस्मार्क का भी कुछ ख़याल करेगा। प्रशिया राज्य के एक-एक भाग को बिस्मार्क ने सब प्रकार से उन्नत और पूर्ण बनाने की चेष्टा की थी और उन्हीं भागों को कैसे वह तोड़ सकता था। इन प्रान्तों को जन्म ही बिस्मार्क ने दिया था। और फिर संघवादी (फ़ेडरलिस्ट) खुले आम पृथक्करण की नीति को भी नहीं पुष्ट कर सकता था। एक बात और थी। इन तथाकथित फ़ेडरलवादियों का आक्रमण प्राचीन प्रशिया के अनुदार प्रतिनिधियों के विरुद्ध ही था। ये अधिकतर दक्षिण जर्मनीवाले और यहूदी थे जिनको ये खास तौर से बचाकर चलते थे। यहूदियों का मतलब था जर्मनी के जातीय दलों को परस्पर लड़ा देना; यानी कंज़र्वेटिव (अनुदार) बवेरिया को कंज़र्वेटिव प्रशिया का द्रोही बना देना। और इसमें वे सफल हुए।

१९१८ के जाड़ों में यहूदियों ने एक बात और की। इन्होंने ईसाइयों के दो मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों में भी फूट का बीज बो दिया। कैथलिक मतवाले प्रोटेस्टेण्ट मतवालों के द्वेषी हो गये। यह स्थिति भयावह थी। आर्य-जाति और समस्त ईसाई-संसार के द्रोही यहूदियों को यह देखकर परम संतोष हुआ। पर खेद की बात यह थी कि आर्य-जाति आपस में ही फूट पैदा कर विनाश के पथ की ओर अग्रसर हो रही थी और कोई इसके विरुद्ध कुछ बोलना नहीं चाहता था। सब चुपचाप तमाशा देख रहे थे।

पर मैंने यहाँ सबको स्पष्ट रूप से सतर्क कर दिया था कि इस नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन के अन्दर कोई इस तरह की फूट डालने की चेष्टा न करे। इसके नेताओं को स्पष्ट आदेश था कि सदस्यों में से जो कोई ऐपी मनोवृत्ति दिखावे वह तुरंत निकाल बाहर किया जाय। हम लोग १९२३ तक बराबर अपनी उद्देश्य-सिद्धि में सफल होते रहे। हमारे दल में प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिक दोनों ही सम्प्रदायों के लोग एकमत होकर काम करते रहे। साम्प्रदायिकता का चिह्न तक

न था। पर १९२४ में यह बात न रह सकी। इन लोगों की बदौलत नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन में भी फूट हो ही गई।

फ़ेडरेशन (संघ-शासन) के सम्बन्ध में अमेरिकन और जर्मन रिपबलिक की तुलना नहीं हो सकती। अमेरिका एक महादेश है। वहाँ के संयुक्त राष्ट्र बहुत बड़े-बड़े हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अमेरिकन रिपब्लिक ने वहाँ के यूनियन (संयुक्त राष्ट्र) की सृष्टि नहीं कि बल्कि यूनियन ने ही तथाकथित राष्ट्रों को बनाया। उन राष्ट्रों को पूर्ण राज्याधिकार नहीं प्राप्त हैं। विधान के अन्दर उनको स्वत्व और अधिकार मिले हुए हैं जिनका नियंत्रण सार्वभौम सत्ता-द्वारा होता है।

पर जर्मनी की स्थिति दूसरे प्रकार की है। यहाँ के अलग-अलग राज्य आरम्भ में स्वतंत्र राष्ट्र थे और इन सबको मिलाकर साम्राज्य बना था। पर विभिन्न राज्यों के परस्पर के सहयोग और उनकी अनुमति से साम्राज्य का निर्माण नहीं हुआ था बल्कि प्रशिया का प्रभुत्व सबके ऊपर होने के कारण ही साम्राज्य बन पाया था। फिर जर्मन-राष्ट्रों और अमेरिकन राष्ट्रों के आकार में इतना अंतर है कि कोई तुलना हो ही नहीं सकती। यह बात कभी मानी ही नहीं जा सकती कि अधिकांश राष्ट्रों को पूर्ण शासन का स्वातंत्र्य प्राप्त था। प्रशिया की प्रबल शक्ति सबके ऊपर थी। बिस्मार्क का सिद्धांत यह नहीं था कि छोटे राष्ट्रों से जो कुछ लिया गया है वही उनको दे दिया जाय बल्कि यह कि जो कुछ साम्राज्य के लिए आवश्यक है वह छोटे राष्ट्रों से लिया जाय और वास्तव में ऐसा हुआ भी। रीख की प्रभुता विभिन्न राष्ट्रों की संपत्ति से ही बढ़ी है। समय की गति ने बिस्मार्क के स्वप्न को सत्य कर दिखाया।

जर्मनी के पतन और राजतंत्र के लोप से इस कार्य में और भी शीघ्रता हो गई। और इसी कारण राष्ट्र को फ़ेडरल बनाने में भी बाधा पड़ी। फिर 'शान्ति' स्थापनवाली संधि में संघ-स्थापना को

एक प्रकार से असंभव ही बना दिया। जैसे ही जर्मनी की युद्ध में पराजय हुई और वह क्षतिपूर्ति की रक़म देने पर बाध्य किया गया वैसे ही सब राज्यों से आर्थिक नियंत्रण दूर होकर रीख़ के ऊपर सारा उत्तरदायित्व आगया। आगे चलकर रेल और डाक आदि की संस्थाओं को रीख़ को अपने हाथ में लेना पड़ा। और इस प्रकार सुलह के प्रभाव से हमारी सारी जाति क्रमशः दासता की बेड़ी में जकड़ जाने लगी।

बिस्मार्क का साम्राज्य स्वतंत्र और अनियंत्रित था। इसके ऊपर किसी प्रकार का क़र्ज़ का बोझ, क्षतिपूर्ति की गहरी रक़म नहीं लादी हुई थी। इसका ख़र्च कुछ आवश्यक घरेलू मदों तक ही परिमित था। इसलिए प्रांतों की आय से ही इसका काम चला जाता था। इस कारण छोटे राष्ट्र अपने को साम्राज्य के अंग समझकर संतुष्ट थे। इसलिए यह कहना असत्य और अन्यायपूर्ण है कि छोटे राज्यों में साम्राज्य के प्रति इसलिए असंतोष की वृद्धि हुई कि उनका आर्थिक शोषण साम्राज्य-द्वारा हो रहा था। इसका वास्तविक कारण यह था कि रीख़ जर्मन-जाति का उचित प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हो रही थी। इधर जाति की महत्ता का कुछ ख़याल न किया जाय और उधर क्षतिपूर्ति की रक़म अदा करने के लिए नागरिकों की पाई-पाई वसूल कर ली जाय तब तो देश भर में विद्रोह की आग न धधक उठे तभी आश्चर्य होगा।

इसलिए हम नेशनल सोशलिस्ट इन मौलिक सिद्धांतों को सबके आगे रखना अपना कर्त्तव्य समझते हैं--

यदि शक्तिशाली नेशनल रीख़ (जातीय साम्राज्य) राष्ट्र के भीतर और बाहर अपनी सारी प्रजा के सब प्रकार के स्वत्वों की रक्षा में प्रयत्नवान् रहे तो उसे घर के अन्दर विशृखला उपस्थित होने का कोई भय नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में प्रबल राष्ट्र अपने नागरिकों और राज्यों से बड़े से बड़े त्याग और बलिदान की आशा कर सकता है,

बशर्ते कि प्रत्येक प्रजा को यह विश्वास हो कि उसका प्रत्येक त्याग और बलिदान उसकी जाति को महान् बनाने में सहायक होगा।

आज संसार के सारे राष्ट्र अपनी घरेलू नीति के सम्बन्ध में एकता की ओर बढ़ रहे हैं और जर्मनी भी इस सम्बन्ध में पीछे न पड़ेगा।

इस प्रकार की एकाई चाहे जितनी ही स्वाभाविक हो पर नेशनल सोशलिस्टों का यह कर्त्तव्य है कि इसका प्रबल विरोध करें। क्योंकि यह सब एक मूर्खतापूर्ण और घातक वैदेशिक नीति को सफल बनाने और क्षतिपूर्ति की असाधारण रक़म अदा करने के उद्देश्य से हो रहा है।

रेल, तार, डाक आदि सभी विभागों का केन्द्रीकरण राष्ट्र इसी उद्देश्य से कर रहा है कि देश का रक्तशोषण कर दूसरों का देना भरा जाय।

दूसरा कारण हमारे विरोध का यह है कि ये यहूदी-लोकतन्त्र राष्ट्र छोटे राज्यों की आपत्ति और विरोध को सुनना नहीं चाहते। ये उनका मुँह बन्द कर देना चाहते हैं।

हम नेशनल सोशलिस्टों का दृढ़ मत यह है कि राष्ट्र एक ढाँचा भर है। इसका अस्तित्व इसके अन्दर रहनेवालों के कल्याण के लिए है। जाति के कल्याण और मर्यादा को हम सबके ऊपर स्थान देंगे। राष्ट्र का सारा कार्यकलाप इसी को दृष्टिपथ में रखकर होगा। साम्राज्य के अन्तर्गत हम किसी राज्य को स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता नहीं दे सकते। जब तक ऐसा नहीं होगा, विदेशी लोग हमारे राष्ट्र को संगठित नहीं समझेंगे।

भविष्य में अन्तर्गत राज्यों का महत्त्व कला और संस्कृति आदि की दिशाओं में होगा।

सैन्य को सदा विविध राज्यों के प्रभाव से अलग रखना होगा। आनेवाला जातीय राष्ट्र सेना को कभी किसी ऐसे काम में न लगावेगा जो इसके लिए अनुचित है। जातीय जीवन में जिन कारणों से

फूट और विशृंखला होती है उनका निराकरण सेना के आदर्श और प्रत्येक जर्मन की सैनिक शिक्षा-द्वारा होगा। प्रत्येक जर्मन सैनिक होगा और समूचे राष्ट्र को अपना घर समझेगा। सेना में काम करते समय प्रत्येक जर्मन को जर्मनी भर में एक बार घुमा देना और सारे देश के गौरव से उसे परिचित करा देना होगा। उसे घर की चहारदीवारी में बन्द रखना मूर्खता है।

नेशनल सोशलिज़्म के सिद्धान्त देश के विभिन्न राष्ट्रों की राजनीतिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए नहीं वरन् समग्र जर्मन-जाति के नेतृत्व के लिए हैं। उनका काम है सारे देश के जातीय जीवन को नये साँचे में ढालना। और इसलिए उन्हें उस परिमित राजनीतिक क्षेत्र के बाहर जाना होगा जिसे हम पहले ही त्याग चुके हैं।

---

# ग्यारहवाँ परिच्छेद

## प्रचार और संगठन

सङ्गठन से बहुत पहले प्रचार का काम शुरू होना चाहिए और उन लोगों को अपने पक्ष में कर लेना चाहिए जिनसे सङ्गठन का काम लेना हो। मैं सङ्गठन में जल्दबाज़ी के बिलकुल विरुद्ध हूँ। पहले अपने विचारों का प्रचार शुरू करना चाहिए फिर इससे प्रभावित होकर जो लोग आवें उनमें से नेतृत्व के योग्य लोगों को छाँट लेना चाहिए। बहुधा ऐसा हुआ है कि जिनमें देखने से कोई ख़ास योग्यता नहीं जान पड़ती, वही आगे चलकर नैसर्गिक नेता सिद्ध हुए हैं।

ज़्यादा पढ़े-लिखे आदमी ही योग्य होते हैं, यह समझना बड़ी भूल है। बहुधा इसका उलटा हुआ करता है। ज़्यादा पढ़े-लिखे लोग संसार से अनभिज्ञ होते हैं। मानव-विज्ञान से वे बिलकुल अन-जान होते हैं। कोरी किताबी लियाक़तवाले में बहुधा व्यावहारिक बुद्धि बिलकुल नहीं होती। वे बोलना नहीं जानते। जनसमूह को अपने उद्‌गारों से हिला नहीं सकते। वे सङ्गठन करना भी नहीं जानते। वे विचार पैदा कर सकते हैं। पर विचार उत्पन्न करना एक बात है और नेतृत्व कर सकना दूसरी बात। किसी एक आदमी में विचारक, सङ्गठक और नेता तीनों के गुण होना संसार में एक सबसे बिरली बात होगी। जिसमें हों वह सचमुच महान् है।

प्रचार का पहला काम है सङ्गठन के लिए लोक-संग्रह। दूसरा काम है अपने नये सिद्धान्त-द्वारा वर्तमान विचारों और रूढ़ियों को अस्त-व्यस्त कर देना। सङ्गठन का काम है शक्ति-संचय करना जिसके द्वारा अपना अन्तिम लक्ष्य सिद्ध हो। सङ्गठन का एक मुख्य काम यह भी है कि अपने दल में किसी प्रकार का मतभेद न होने पावे। दलबन्दी का विचार न उठने पावे। इसका ध्यान सबसे ज़्यादा रहना चाहिए। जैसे ही इसकी आशङ्का उत्पन्न हो, सदस्य-संख्या का बढ़ना रोक देना चाहिए।

इस मामले में इस पार्टी के संचालक के रूप से मैं आरम्भ से बड़ी सतर्क दृष्टि रखता था। कच्चेदिल या डाँवाँडोल प्रवृत्तिवालों को दूर रखना ही आन्दोलन के भविष्य के लिए अच्छा था।

सन् १९२१ के बीच तक सब बातें ठीक चलती रहीं। पर उसी साल गर्मियों में मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रचार के साथ-साथ सङ्गठन नहीं चल पा रहा था। प्रचार काफ़ी आगे बढ़ गया था।

सन् १९२०-२१ में आन्दोलन के अन्दर एक समिति बनाई गई थी। पर मज़े की बात यह थी कि यह समिति उसी आधार पर थी जिसका अन्त करने के लिए इस आन्दोलन का जन्म हुआ था। इसकी कार्रवाई पार्लमेंट-पद्धति के अनुसार थी। मैंने इस मूर्खता का विरोध किया और बहुत शीघ्र इस समिति की बैठकों में जाना बन्द कर दिया। मैं अपना प्रोपेगैंडा खुद करता था।

जैसे ही नये नियम बने और मैं पार्टी का मुखिया चुना गया, मैंने तुरन्त इन वाहियात बातों का अन्त कर दिया। आन्दोलन का सारा उत्तरदायित्व अध्यक्ष के ऊपर था। समिति के फ़ैसलों का कोई स्थान नहीं था।

कम से कम पार्टी के अन्दर सम्पूर्ण उत्तरदायित्ववाला सिद्धान्त बर्ता जाने लगा।

समिति के लिए यही अच्छा था कि सब बातों में राय देने के बदले कोई उपयोगी काम करे। मुझे यह देखकर हँसी आती कि इसके सदस्य चुपचाप दुम दबाकर खिसक जाते और कहीं इनका पता तक न चलता। ठीक वही रीख़स्टाक (जर्मन पार्लमेंट) वाला क़िस्सा था।

१९२० के दिसम्बर में हमने 'वोकिशर वियोबाखतर' नामक पत्र अपने हाथ में किया। यह हमारी पार्टी का मुखपत्र बना। पहले यह साप्ताहिक था, फिर दैनिक हो गया और अपने प्रसिद्ध रूप में निकलने लगा।

यह पत्र पाठ्य-सामग्री की दृष्टि से तो बड़ा सफल हुआ पर व्यावसायिक दृष्टि से कठिनाइयाँ होने लगीं। यह आशा करना अनुचित है कि व्यावसायिक अदूरदर्शिता को हम देशभक्तों के चन्दे से पूरी कर लेंगे। इस पत्र को अन्य पत्रों से मुक़ाबिला भी तो करना था।

इस ख़तरे को मैंने जल्दी पहचान लिया और इसको दूर करने के लिए मैंने उचित उपाय किया। १९१४ में मेरा परिचय मैक्स अमन से हुआ था जो अब पार्टी के बिजनेस डाइरेक्टर (व्यावसायिक संचालक) हैं। १९२१ में ये मुझे संयोग-वश मिले और मैंने इन्हें इस पद को ग्रहण करने पर बाध्य किया। काफ़ी पसोपेश के बाद इन्होंने स्वीकार किया पर इस शर्त पर कि अपने काम में इन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रहे। केवल एक आदमी के लिए ये जवाबदेह रहें और समितियों से इनका कोई सरोकार न रहे।

इसका फल अच्छा ही हुआ। पत्र के कर्मचारियों में बवेरियन पीपल्स पार्टी के कुछ लोग आये और सचमुच ये बड़े योग्य थे। एक मनुष्य की योग्यता को ठीक पहचानकर काम लेने से ही आन्दोलन ने अपने कर्मचारियों के हृदय पर अधिकार कर लिया। और यह काम पहले से कहीं कम समय में और बड़े पक्के रूप में हुआ।

दो साल के अन्दर मैं अपने विचारों को बहुत कुछ कार्य-रूप में परिणत कर सका था, और जहाँ तक प्रधान नेतृत्व का सम्बन्ध है, ये सब विचार ज्यों के त्यों है। इनमें परिवर्तन असम्भव है।

इस आन्दोलन की सफलता का कुछ अन्दाज़ा १९२३ में लगाया जा सका था। चार साल पहले जब मैंने पहले-पहल इसमें हाथ डाला था, तब इसके दफ़्तर में एक रबर की मुहर तक न थी। ९ नवम्बर १९२३ को यह आन्दोलन तोड़ दिया गया। इसकी सब चीज़ें बेचने से १,७०,००० सोने के मार्क मिले थे।

---

# बारहवाँ परिच्छेद

## ट्रेड यूनियन का प्रश्न

हमारे आन्दोलन का विकास शीघ्रता से हो रहा था पर १९२० में एक ऐसा प्रश्न हमारे सामने आया कि उसके बारे में एकाएक कोई स्पष्ट निर्णय न हो सका।

हमारे आन्दोलन की वृद्धि के साथ-साथ जनता को यह आपत्ति प्रायः हुआ करती थी कि श्रमिकवर्ग का भाग्य-निर्णय जब तक दूसरे लोगों के हाथ में है तब तक वे हमारे दल में नहीं आ सकते थे। उनके आर्थिक हानि-लाभ का निबटारा ऐसे लोगों-द्वारा होता था जो हमसे भिन्न राय रखते थे।

ट्रेड यूनियनों (श्रमिकसंघों) की बनावट और उनकी गतिविधि आदि के बारे में पहले मैं अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ। मैं अपना यह मत प्रकट कर चुका हूँ कि जब तक शिक्षा के नवीन आदर्श-द्वारा मालिकों की मनोवृत्ति नहीं बदली जाती तब तक कोई स्थायी लाभ ट्रेड यूनियनों-द्वारा होना संभव नहीं। और शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन राष्ट्र-द्वारा ही हो सकता है। और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक श्रमिकवर्ग के पास इसके सिवा कोई चारा नहीं कि अपने हानि-लाभ का प्रश्न खुद हल करे। उसे अपने स्वत्वों के लिए स्वयं लड़ना होगा। मैंने यह भी कहा था कि जब तक इस वर्ग के भाग्य-विधाताओं को सामाजिक अन्याय तथा मानवता के शोषण से कोई हिचक नहीं है तब तक श्रमिकसंघों की आवश्यकता रहेगी ही।

वर्तमान परिस्थिति में श्रमिकसंघ के बिना काम चल नहीं सकता। बल्कि यों कहना चाहिए कि जाति के आर्थिक जीवन के लिए इन संस्थाओं का रहना परम आवश्यक है।

हमारा नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन समाज के कल्याण के लिए है। अतः इसमें कोई संदेह न होना चाहिए कि राष्ट्र की प्रत्येक लोक-हितकारिणी संस्था इसके अंतर्गत हो। क्योंकि लोक-राष्ट्र या जातीय राष्ट्र का निर्माण ही इसका लक्ष्य है। यह कहना व्यर्थ है कि कोरी शक्ति संचय करने से ही काम हो जायगा। मनोवृत्ति और दृष्टिकोण बदलने की ज़रूरत है। केवल परिस्थिति बदलने से ही सब काम ठीक न हो जायगा।

उदाहरण के लिए मान लीजिए किसी ने ऊपर से अपनी जेब से विधान की कोई नई धारा या श्रमिकों के लाभ के लिए कोई नया क़ानून 'पेश' किया और वह पास भी हो गया। पर इससे आगे क्या होगा? करने-धरनेवालों की मनोवृत्ति तो वही है।

नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन कभी कोई इस तरह का ऊटपटांग प्रयोग न करेगा। यह इस तरह की कोई बात तभी करेगा जब इसका पूरा प्रबन्ध इसने बहुत पहले से कर लिया हो। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस आन्दोलन का अपना अलग श्रमिकसंघ स्थापन करना होगा।

पर नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन के श्रमिकसंघ की रूप रेखा क्या होगी? इस सम्बन्ध में हमारी नीति क्या होगी और हमारा लक्ष्य क्या होगा?

हमारा श्रमिकसंघ वर्ग-युद्ध कराने के लिए न होगा। विभिन्न श्रेणियों को परस्पर लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करना इसका काम न होगा। नेशनल सोशलिस्ट राष्ट्र की दुनिया में कोई श्रेणी या वर्ग नहीं है। हमारा राष्ट्र केवल समान स्वत्वोंवाले नागरिकों को जानता है। और समान स्वत्व के साथ समान उत्तरदायित्व भी है। राष्ट्र के अन्दर जिस नागरिक के कोई उत्तरदायित्व नहीं हैं उसके कोई स्वत्व भी नहीं हैं।

श्रमिकसंघों का मौलिक उद्देश्य वर्गवाद और श्रेणी-कलह की सृष्टि करना नहीं था। इसको ऐसा मार्क्सवाद ने बनाया। मार्क्सवाद ने इसके द्वारा वह आर्थिक शस्त्र तैयार किया जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी विश्व की आर्थिक कुंजी अपने हाथ में करना चाहते हैं। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि संसार की स्वतंत्र जातियाँ आर्थिक दृष्टि से यहूदियों की गुलामी करेंगी।

नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन के हाथ में आने पर श्रमिकसंघ जाति के सर्वनाश का यंत्र न बनाया जायगा। देश की पैदावार और औद्योगिक सफलता पर हड़ताल के लिए इसका उपयोग न होगा, वरन् इसकी उन्नति और वृद्धि के लिए ही होगा। जाति के व्यावसायिक जीवन में जो कुछ त्रुटियाँ और औद्योगिक उन्नति में जो कुछ बाधायें हों उनको दूर करना ही इसका ध्येय होगा।

नेशनल सोशलिस्ट श्रमिक के लिए यह अनुभव करना आवश्यक है कि जाति की आर्थिक उन्नति और सुख में ही उसकी निजी उन्नति और सुख है।

नेशनल सोशलिस्ट मालिक को ऐसा समझना होगा कि उसके श्रमिकों के ही संतोष और सुख से उसका सुख और व्यावसायिक सफलता है।

यह घोर मूर्खता की बात होगी कि नेशनल सोशलिस्ट श्रमिकसंघ के साथ अन्य श्रमिकसंघ भी चलें। यह तो अकेला ही काम कर सकता है। औरों के उद्देश्य इससे भिन्न हो सकते हैं। पर यह अपने उत्तरदायित्व का भार तभी ले सकेगा जब कोई दूसरे संघ न हों।

हमारे निजी श्रमिकसंघ रखने के विपक्ष में बहुत-से तर्क रहे हैं और रहेंगे।

मैंने कभी ऐसे प्रयोग में हाथ डालना ठीक नहीं समझा जिनकी असफलता आरम्भ से ही निश्चित है। यदि मैं श्रमिकों का कुछ

उपकार न कर सकूँ तो उनकी गाढ़े की कमाई की एक बँधी रक़म लेकर श्रमिकसंघ चलाना महापाप समझूँगा।

१९२२ में हमने यह काम इन्हीं उद्देश्यों से अपने हाथ में लिया था। पर और लोग शायद हमसे बढ़े-चढ़े थे। उन्होंने भी श्रमिक-संघ स्थापित किये पर कुछ ही दिनों में वे सब लुप्त हो गये। अन्तर यही था कि हम लोगों ने न अपने को धोखा दिया न दूसरों को।

---

# तेरहवाँ परिच्छेद

## महायुद्ध के बाद की सन्धियाँ और समझौते

क्रांति के बाद भी जर्मनी की वैदेशिक नीति वैसी ही अनिश्चित रही और आगे चलकर समझौतों के समय और भी मूर्खतापूर्ण नीति से काम लिया गया। जब तक हमारा आन्दोलन छोटे पैमाने पर था तब तक देश की वैदेशिक नीति में हस्तक्षेप करना ठीक न जान पड़ता। पर अब वह समय आगया था जब कि इस संबंध में चुप रहना घातक था। और हमारे आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यही था कि विदेशी शत्रुओं-द्वारा अपने देश के विध्वंस होने के कारणों को दूर कर दिया जाय।

हमारे आन्दोलन का विस्तार काफ़ी हो जाने के बाद वैदेशिक मामलों पर विचार करना आवश्यक हो गया।

वैदेशिक नीति के संबंध में भी हमारा मौलिक सिद्धांत यही है कि यह एक निश्चित उद्देश्य-सिद्धि के लिए उपाय-मात्र है। और उद्देश्य हमारा है जातीय उन्नति। वैदेशिक नीति स्थिर करते समय हमारे सामने एक-मात्र प्रश्न यह होगा—

क्या अमुक नीति-द्वारा अभी या भविष्य में हमारी जाति का लाभ या हानि होगी?

इस संबंध में सबसे पहले मातृ-भूमि की खोई हुई स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करने का प्रश्न आता है। जब तक यह प्रश्न नहीं हल होता तब तक खोये हुए राज्यों या उपनिवेशों को पुनः प्राप्त करने का प्रश्न उठाना व्यर्थ है। पहले अपना घर ठीक करके तब आगे पाँव

बढ़ाना चाहिए। क्योंकि खोई हुई चीज़ों को प्राप्त करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है और वह शक्ति बिना अपने घर को पहले सँभाले हुए नहीं प्राप्त हो सकती।

जाति के नेताओं का पहला काम है अपनी घरेलू नीति-द्वारा उस शक्ति को उत्पन्न करना जिससे वैदेशिक नीति में सफलता प्राप्त हो सके। और फिर उस शक्ति से काम ले सकने योग्य आदमी भी पहले राष्ट्र को तैयार कर लेना होगा।

इस पुस्तक के पिछले परिच्छेदों में मैं अन्य राष्ट्रों से मैत्री स्थापन करने की अधकचरी नीति के संबंध मे चर्चा कर चुका हूँ। यूरोप के अंदर एक सुदृढ़ नीति पक्की करने के पहले ही लोग उपनिवेशों के लिए हाय-तोबा मचाने लगे थे। फल वही हुआ जैसा कि दो नावों पर एक साथ बैठनेवाले का होता है। 'न माया मिली न राम।' उचित मार्ग यह था कि यूरोप के अंदर ही राज्य-विस्तार द्वारा साम्राज्य की शक्ति दृढ़ की जाती।

पर चूँकि हमारी लोक-सत्तात्मक पार्लमेंट यूरोप के अन्दर राज्य-विस्तार करने के लिए कोई योजना या सैन्य-संग्रह करने को तैयार न थी। इन्होंने इँगलैंड के साथ मैत्री स्थापन करने का सुयोग नष्ट कर दिया जो कि उस समय संभव था। साथ ही उन्होंने रूस की सहायता का सुयोग भी खो दिया। इसका फल यह हुआ कि महायुद्ध में जर्मनी को अकेले कूदना पड़ा। कहने को इसका एकमात्र साथी हब्सबर्ग राजवंश का गड़ा मुर्दा (आस्ट्रिया) था।

एलिज़ाबेथ के समय से ही ब्रिटिश वैदेशिक नीति का लक्ष्य यह रहा है कि यूरोप के अन्दर कोई महाशक्ति इतना सिर न उठा सके जो उसके लिए आशंका का कारण बन सके। इसके लिए अँगरेज़ प्रत्येक उपाय से काम लेने के लिए प्रस्तुत रहते थे। पहले इन्होंने स्पेन और नेदरलैंड्स (हालैंड-बेल्जियम) को ऐसा बना दिया कि

कभी ये महाशक्ति न बन सकें। फिर नेपोलियन के पतन के बाद फ़्रांस भी इसी अवस्था को पहुँचा दिया गया।

जर्मनी की ओर अभी तक इन्होंने इसलिए अपनी दृष्टि केन्द्रित नहीं की थी कि यह इस योग्य ही नहीं समझा जाता था।

क्रमशः जर्मनी के वाणिज्य-विस्तार से अँगरेज़ों की चिन्ता बढ़ी। विश्व-व्यापार में जर्मनी की सफलता इँगलैंड को खटकी। अपनी असाधारण राजनीतिक दूरदर्शिता से इँगलैंड ने विश्व की सभी शक्तियों को अपने पक्ष में कर लिया। अपने शत्रु की शक्ति और अपनी निजी दुर्बलताओं को लक्ष्य में रखते हुए इन्होंने सभी उपायों से काम लिया। इनकी राजनीति इस सिद्धान्त पर थी कि जहाँ जिस उपाय से काम बने वहाँ उसी नीति से काम लिया जाय। और ये सफल हुए।

महायुद्ध में पराजय के बाद जर्मनी में जब क्रान्ति हो गई तब इँगलैंड का यह भय दूर हो गया कि जर्मनी विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ होगा। पर साथ ही इँगलैंड का स्वार्थ यह भी था कि यूरोप के नक़शे से जर्मनी का नाम-निशान न मिटने पावे। वे फ़्रांस को बहुत प्रबल नहीं देखना चाहते थे। उनका स्वार्थ इसी में था कि अंगभंग जर्मनी किसी तरह फ़्रांस के मार्ग में बाधा देने योग्य बना रहे। अपने पड़ोसी फ़्रांस की मित्रता तो ये चाहते थे पर ऐसा फ़्रांस ये नहीं चाहते थे जो समूचे जर्मनी को डकारकर महाप्रबल हो जाय। पर महायुद्ध के बाद इस सम्बन्ध में इँगलैंड की राजनीतिक चाल ख़ाली गई। फ़्रांस की शक्ति बहुत बढ़ चली।

आज फ़्रांस की स्थिति असाधारण है। उसके राज्य की दक्षिणी सीमा को इटली और स्पेन से कोई भय नहीं है। जर्मनी के लिए उसकी असाधारण स्थल-सेना है। उसके पश्चिमी समुद्र-तट की रक्षा के लिए उसका जहाज़ी बेड़ा है जो अँगरेज़ी बेड़े से भी अधिक शक्तिसम्पन्न हो चला है।

ब्रिटेन विश्व भर में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए यूरोप की शक्तियों को एक विशेष सीमा के ऊपर नहीं आने देना चाहता।

इधर फ़्रांस यह चाहता है कि जर्मनी छोटे-छोटे कई राज्यों में विभक्त होकर पंगु बना रहे। वह राइन के बाँयें किनारे को अपने अधिकार में रखता हुआ यूरोप में अपनी धाक जमाने की धुन में था।

पर फ़्रांस और इँगलैंड के राजनीतिक उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी हो चले।

अब यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि सभी देश अपने ही स्वार्थों की धुन में पागल हो रहे हैं। कोई भी अँगरेज़, इटैलियन या अमेरिकन ऐसा नहीं मिलेगा जो अपना खयाल छोड़कर जर्मनी के हित की बात सोचता हो। कोई भी जर्मन राजनीतिज्ञ, जो विदेशियों की सहायता पर भरोसा करता हो, या तो गधा है और या राजनीतिज्ञ नहीं है।

इँगलैंड नहीं चाहता कि जर्मनी फिर एक महाशक्ति में परिणत हो। और फ़्रांस नहीं चाहता था कि जर्मनी की कुछ भी हस्ती रहे। दोनों के दृष्टिकोण में यह मार्के का अन्तर था। पर हमें फ़िलहाल अपने अस्तित्व की ही चिन्ता है। हमारे बच्चे भूखों न मरें; हमारी जाति का नाम-निशान मिट न जाय यही प्रश्न सबसे पहले हमारे सामने है। इस दृष्टि से दो ही राष्ट्र हमारी दृष्टि में ऐसे हैं जिनको मित्र बनाना वांछनीय हो सकता है—इँगलैंड और इटली।

फ़्रांस की बढ़ती हुई शक्ति इँगलैंड को खल रही है। इधर इटली भी फ़्रांस की अधिकाधिक शक्ति को अपने लिए घातक समझता है। इटली का भविष्य भूमध्यसागर पर निर्भर करता है और फ़्रांस की बढ़ती हुई शक्ति उसे भूमध्यसागर में सिक्का जमाने में बाधक हो सकती है।

शान्त मस्तिष्क से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जर्मनी के अस्तित्व का न मिटना इँगलैंड और इटली के हक़ में अच्छा ही है।

इँगलैंड जर्मनी का और अधिक पतन नहीं चाहता पर यहूदी तो इसका सर्वनाश ही देखने पर तुले हुए हैं। वे जर्मनी को बोलशेविक बना देना चाहते हैं और इस प्रकार विश्व की आर्थिक कुंजी अपने हाथ में लेना चाहते हैं।

हम यह मानते हैं कि नेशनल सोशलिस्टों के लिए यह करना कठिन है कि भविष्य में इँगलैंड हमारा मित्र हो सकेगा। यहूदी पत्र बारम्बार हमारे देशवासियों में इँगलैंड के प्रति घृणा के भाव भरने में सफल हो रहे थे। वे आये दिन कोई न कोई ऐसा पचड़ा शुरू कर देते थे जिसे हमारे मूर्ख मध्यवर्गवाले ले उड़ते थे। उपनिवेशों का प्रश्न, उनका जहाज़ी बेड़ा या इसी तरह की किसी न किसी बात का प्रचार शुरू कर देते थे जिससे कि इँगलैंड के साथ मित्रता की बात भी कोई न सोचे।

यहाँ उदाहरण के लिए हम एक दक्षिण टायरोल का नाम लेना प्रर्याप्त समझते हैं। मैं कहता हूँ टायरोल के लिए चार वर्ष तक रक्त तो हमने बहाया और तब ये कहाँ थे। टायरोल और उसके साथ ही जर्मनी का सर्वस्व इन्हीं की काली करतूत के कारण स्वाहा हुआ। अब जब सब इन्हीं के षड्यन्त्र और विश्वासघात से हुआ तब अब ये किस मुँह से टायरोल या अन्य किसी प्रान्त की पुनःप्राप्ति के लिए आवाज़ उठाते हैं ?

जर्मनी को यदि अपना अस्तित्व रखना है तो युद्ध के पहले की गई भूलों से बचना होगा। वह अपने सबसे भयानक भीतरी शत्रु को जितनी जल्दी पहचान सके उतना ही उसके लिए अच्छा है। यह आस्ट्रिया के शव के साथ नाता जोड़ने का ही फल था कि जर्मनी हारा। फिर हारने के बाद ही सरकार ने जाति में एक बार फिर से नवीन उत्साह और नई जान फूँक देने के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया? जर्मनी के जातीय अपमान का निराकरण करने के लिए इन्होंने क्या किया?

फिर यदि कोई चाहता तो वही वर्साई की सन्धि जाति के लिए वरदान सिद्ध हो सकती थी। इसके एक-एक शब्द से जनता के हृदय में आग सुलगाई जा सकती थी। इसकी अन्यायपूर्ण प्रत्येक धारा से जनता के खोये और कुचले हुए आत्म-सम्मान को जाग्रत किया जा सकता था। पर यह सब कुछ नहीं किया गया। ऐसी अवस्था में कौन ऐसी जाति से मित्रता जोड़ने की इच्छा करेगा?

नई जल-सेना, नया जंगी बेड़ा और उपनिवेशों आदि का प्रश्न उठाना कोरी गप्पें हैं और इसमें जाति का निष्ठुर उपहास भरा हुआ है।

हमारे आन्दोलन को इन्हीं बातों को ध्यान से समझना है। हमें इन वाहियात बातों के चक्कर में न पड़कर असल तत्त्व को पकड़ना होगा। हमें जाति के उद्धार के लिए लड़ना है। एकमात्र शत्रु को, जिसकी जड़ हमें काटना है, पहले रास्ते से दूर करना होगा। क्या यह संभव है कि जब तक कि ये भीतर से हमारी रीढ़ मार रहे हैं तब तक कोई शक्ति हमसे नाता जोड़ना पसंद करेगी?

फ़ासिस्ट इटली ने यहूदी सर्प के विष-दंत तोड़ने का जो उपाय किया वह इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि इनका अंतर्राष्ट्रीय विष सभी जगह व्याप्त हो रहा था। इँगलेंड में भी इनके विरुद्ध भीषण संघर्ष चल रहा है। वहाँवाले यहूदी तानाशाही तोड़ने के लिए कटिबद्ध हो चुके हैं।

युद्ध के बाद ही अमेरिका और जापान में तनातनी शुरू कर देने की चेष्टा पहले-पहल दिखाई पड़ी। यह इसी तथाकथित 'अंतर्राष्ट्रीय' प्रेस की देन थी।

जिस तरह जर्मनी के सर्वनाश से ब्रिटेन का नहीं वरन् यहूदियों की हित-सिद्धि का प्रश्न था, उसी तरह जापान के मामले में भी इन्हीं को अपना उल्लू सीधा करना था। ये चाहते यह हैं कि यूरोप की आर्य-जातियाँ आपस में लड़कर नष्ट हो जायँ और फिर विश्व के वर्णसंकरों पर यहूदियों का प्रभुत्व स्थापित हो। जापान के विरुद्ध अमेरिका

और इँगलैंड को उत्तेजित कर ये चाहते हैं कि जर्मनी की तरह जापान भी नष्ट हो। पर एशिया के जातीय राष्ट्र जापान में इनकी दाल गलनी कठिन है।

इस तरह यहूदी ब्रिटेन के भी द्रोही हो गये हैं और वहाँ इनके विरुद्ध संघर्ष होना निश्चित है।

हम नेशनल सोशलिस्टों को पहले अपने इस घर के शत्रु का अंत कर देना है।

---

# चौदहवाँ परिच्छेद

## पूरब की नीति

हमारे देश के विचारक लोग इस धुन में लगे हुए हैं कि यहाँ की वैदेशिक नीति वास्तविक जातीय हित का ध्यान छोड़ अन्य प्रश्नों पर केन्द्रित हो जाय। में, इस सिलसिले में, रूस के सम्बन्ध में अपनी धारणा यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

एक जातीय राष्ट्र की वैदेशिक नीति को पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसकी जाति के रहने भर को जगह तो पहले प्राप्त कर ली जाय। पृथ्वी पर पर्याप्त स्थान के बिना कोई जाति अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। पर्याप्त स्थान पाने पर ही जर्मनी एक विश्व-शक्ति हो सकती है। गत महायुद्ध में जर्मनी वास्तव में अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए ही लड़ रहा था। उस समय जर्मनी एक विश्व-शक्ति समझा भर जाता था पर वास्तव में वह ऐसा नहीं था। यदि वह ऐसा होता तो या तो यह युद्ध होता ही नहीं और यदि होता भी तो जर्मनी की विजय होती।

जर्मनी विश्व-शक्ति नहीं है। विश्व-शक्तियों के राष्ट्रों का क्षेत्र-फल देखते हुए जर्मनी का आकार कुछ भी नहीं है। इस सिलसिले में इँगलैंड का नाम ही लेना व्यर्थ है। इँगलैंड को तो हम उसके विशाल विश्व-साम्राज्य की राजधानी भर कह सकते हैं। भूतल के लगभग एक चौथाई भाग में यह साम्राज्य फैला हुआ है जो इसकी सम्पत्ति है। अमेरिका, रूस और चीन आदि विशाल राष्ट्रों की तुलना में जर्मनी नगण्य है। फ़्रांस भी उसी कोटि में आता है।

यदि फ़्रांस का फैलाव इसी गति से होता रहा तो निकट भविष्य में राइन से लेकर कांगो तक इसका विस्तार हो जायगा। और यह राष्ट्र वर्णसंकर प्रजा से व्याप्त हो जायगा। यहीं पर जर्मनी की पिछली औपनिवेशिक नीति से फ़्रांस की नीति का पार्थक्य है। हमारी नीति ने न तो जर्मन-जाति द्वारा अधिकृत उपनिवेशों को बढ़ाया ही और न उनमें काले रक्त का प्रवेश ही होने दिया।

हमारे आन्दोलन को जन-संख्या के अनुसार राज्य-विस्तार की ओर ध्यान देना होगा।

प्रशियन राष्ट्र-निर्माण ही जर्मन-नीति का सबसे श्रेष्ठ परिणाम था। और इसके अन्दर सबसे महत्त्व-पूर्ण बात थी सैनिक शिक्षा और एकता तथा सुव्यवस्था की मनोवृत्ति। इसी सैनिक शिक्षा के प्रभाव से हम एक जाति के रूप में अपना अस्तित्व रख सके और यदि यह न होती तो पृथ्वी पर से आज हमारा अस्तित्व मिट चुका था।

हमारे जातीय आन्दोलन के लिए यह भली भाँति समझ लेना परम आवश्यक है कि हमारी जाति का इतना रक्त बेकार बहाया गया और हमारी राजनीतिक सफलता किस प्रकार हो सकती थी। इन मध्यवर्गवालों की तथाकथित 'देशभक्ति' के चक्कर मे इसको कभी नहीं पड़ना चाहिए। युद्ध के पहले की स्थितियों के लिए हमारा आन्दोलन उत्तरदायी नहीं है। हमें अपनी जन-संख्या के अनुसार अपना राज्य बढ़ाना है।

जर्मनी की जो राज्यसीमा सन् १९१४ में थी, उसके लिए हाय-तोबा मचाना बेकार है। हमारे शत्रुओं ने सोचा था कि लड़ाई के बाद वे इस राष्ट्र को टुकड़े-टुकड़े कर आपस में बाँट लेंगे और इस प्रकार भविष्य के लिए हमारा उत्थान असम्भव बना दिया जायगा। हमारी शक्ति के भय से ही वे सब राष्ट्र आपस में मिल सके थे।

इस दृष्टि से सन् १९१४ की राज्य-सीमा अब हमारे लिए व्यर्थ है। न तो वे पहले ही सुरक्षित थे और न भविष्य में हो सकते हैं। साम-

रिक दृष्टि से भी उनका कोई मूल्य नहीं। हाँ, एक बात निश्चित है। वही सीमा फिर से प्राप्त करने पर हमें फिर अपनी जाति का रक्त व्यर्थ बहाना पड़ेगा।

किसी भी सीमा पर किसी जाति का जन्मगत अधिकार नहीं होता। सीमायें तो जातियाँ अपने पौरुष से बनाया करती हैं। एक गज़ भर भी ज़मीन किसी को विधाता-द्वारा नहीं मिलती। जिसमें बल होता है वही भूमि का स्वामी होता है।

उपनिवेश बढ़ाने से हमारी भूमि-समस्या नहीं हल होगी। हमें यूरोप के अन्दर ही अपने लिए जगह बनानी पड़ेगी।

हमें अपने पूरब की ओर विस्तार करना है। ईश्वर ही हमें यह मार्ग दिखा रहा है। रूस का पतन एक दिन निश्चित है। वहाँ यहूदियों ने बोलशेविज़्म का अखंड राज्य कर दिया है। अब न तो रूसवाले यहूदियों को निकाल सकते हैं और न यहूदी ही इस विशाल भूभाग को सँभाल सकते हैं। यहाँ का शिक्षितवर्ग नष्ट हो चुका है और यही हाल वहाँ के जर्मनों का भी हो चुका है।

पश्चिम और दक्षिण का रास्ता हमारे लिए बन्द है।

पार्टी के प्रारम्भिक दिनों, यानी १९२०-२१, में हमें कुछ स्थानों के स्वतंत्रता-आन्दोलनों के सम्पर्क में आने को कहा गया था। 'दलित जातियों के संघ' के रूप में ये कुछ-कुछ थे। इनमें कुछ बाल्कन राष्ट्रों और कुछ भारत तथा मिस्र के प्रतिनिधि थे। पर ये सब बिलकुल बेपेंदी के लोटे थे और इनमें कोई अधिकारी व्यक्ति नही था। इनसे कोई व्यवहार करना समय नष्ट करना था।

उन दिनों (१९२०-२१) यह हवा उड़ी थी कि भारत में ब्रिटिश सत्ता का लोप होने जा रहा है। एशिया के कुछ लोग यूरोप में इधर से उधर दौड़ लगा रहे थे (वे अपने देश के सचमुच भक्त रहे होंगे पर इससे हमसे क्या मतलब) और किसी तरह यह बात इन्होंने कुछ लोगों के मन में बैठा दी थी कि अँगरेज़ों के दिन भारत में अब इने-गिने हैं।

पर यह सोचना लड़कपन है कि इँगलैंड अपने हक़ में भारत का मूल्य नहीं समझता। इँगलैंड भरसक कभी भारत को अपने हाथ से जाने न देगा। भारत के आन्दोलन या विद्रोह कभी सफल नहीं होंगे। यह तो प्रबल शत्रु की तलवार के ज़ोर से ही उनके हाथ से जायगा या जब वे अपने शासन में नस्ल (रेस) की गड़बड़ी आने देंगे। मिस्र के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

उन दिनों जब संसार की सर्वोच्च सामरिक और औद्योगिक शक्तियाँ प्रबल गुटबंदियाँ बना रही थीं, हमें आस्ट्रिया और टर्की ऐसे दो मित्र मिले। इन दुर्बल राष्ट्रों की मैत्री से आनन्द मनाने का कोई कारण नहीं था। इस घातक नीति का बड़ा गहरा मूल्य जर्मनी को देना पड़ा था।

एक जातीय के रूप में, मैं मानवता का मूल्य रेस या नस्ल के सिद्धान्तों द्वारा आँकता हूँ। मैं इसे ठीक नहीं समझता कि अपनी जाति का भाग्य उन तथाकथित 'दलित जातियों' से जोड़ दूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि नस्ल की दृष्टि से ये कितनी निकम्मी और बेकार हो गई हैं।

रूस के वर्तमान शासक एक लम्बे समय तक के लिए ऐक्य में नहीं आना पसन्द करते।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि बोलशेविकों के हाथ ख़ून से रँगे हुए हैं। इन ख़ून के प्यासों ने अपने लाखों सुशिक्षित देशवासियों की हत्यायें कर डाली। हमे यह भी न भूलना चाहिए कि यह जाति ही निर्दय हत्यारों और झूठे दग़ाबाज़ों से भरी हुई है। हमे यह भी सदा स्मरण रखना चाहिए कि इन सबकी बागडोर उन यहूदियों के हाथ में है जो जर्मनी की भी यही दशा करना चाहते हैं।

बोलशेविज़्म का अगला वार जर्मनी पर है। प्राचीन जर्मनी की डाँवाँडोल नीति का एक महान् पातक यह भी था कि उसने रूस से मैत्री स्थिर न रक्खी।

पर मैं यह भी स्पष्ट कहता हूँ और युद्ध के समय मैं यह भी अकसर सोचा करता था कि जर्मनी ने इँगलैंड के साथ मैत्री न स्थापित कर बड़ी भारी भूल की है। यदि ऐसा हुआ होता तो रूसी हमले के समय हमें कोई भय न रहता। जर्मनी को स्लाविस्ट रूस बराबर धमकाया करता था और मैं इसे कभी नहीं भुला पाता। जर्मनी को दबाने के लिए आये दिन रोज़ सेना सीमास्थल की ओर इकट्ठा की जाती। रूस की जनता बराबर जर्मन-जाति के प्रति घृणा के उद्गार प्रकट किया करती। रूसी पत्रकार सदा फ़्रांस के पक्ष में और जर्मनी के विरुद्ध ज़हर उगला करते। मैं इन बातों को कभी नहीं भूल सकता।

आज संसार की महाशक्तियों की गुटबन्दी देखकर भी हमारा देश अँगड़ाई नहीं ले रहा है। हमारे नेशनल सोशलिस्ट आन्दोलन का काम है कि जर्मनी को एक बार फिर सँभल उठने का मार्ग दिखावे। हो सकता है कि सन् १९१८ की हार हमारे लिए विजय में परिवर्तित हो सके। यदि आज भी हमारे देश की आँखें खुल जायँ तो यह भयानक जातीय अपमान हमारे लिए वरदान सिद्ध हो सकता है।

इँगलैंड और इटली के साथ मैत्री स्थापन करने का फल रूस से मैत्री करने के फल का बिलकुल उलटा होगा। इसका एक फल यह होगा कि फिर युद्ध की आशंका न रहेगी। ऐसी स्थिति में सिर्फ़ फ़्रांस हमला करना चाहेगा पर कर नहीं सकेगा; क्योंकि बागडोर इँगलैंड, इटली और जर्मनी के हाथ आ जायगी।

इस गुट के बनाने में कठिनाइयाँ होंगी जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ; पर क्या उस पिछले त्रिगुट के बनाने में कम कठिनाइयाँ थीं? जिस काम में सम्राट् एडवर्ड सफल हो सके थे और परस्पर विरुद्ध स्वार्थों के संघर्ष को मिटाने में समर्थ हुए थे उसमें हम क्यों न सफल हों?

पर इन सबके पहले घर के शत्रु को दूर करना होगा। जनमत की परवाह न करते हुए हमें इस बला को टालना होगा।

———

# पन्द्रहवाँ परिच्छेद

## आत्मरक्षा का अधिकार

सन् १९१८ में जब हम लोगों ने हथियार डाल दिये उसके बाद से एक ऐसी नीति बर्ती जाने लगी जो हम लोगों का सर्वनाश करने-वाली थी।

उस लज्जाजनक सन्धि (आर्मिस्टीस) पर हस्ताक्षर करने के बाद शत्रु का विरोध करने का हमारे देश में किसी में न तो उत्साह ही रह गया न इच्छा ही रह गई, मानों जाति का जीवन ही समाप्त हो गया था। हमारे दमन के लिए शत्रु जो-जो उपाय काम में ला रहा था उनके विरुद्ध कोई चूँ तक करनेवाला न था। शत्रु बड़ी सतर्कता से काम ले रहा था। वह यह भी नहीं चाहता था कि कोई ऐसा काम एकाएक कर बैठे जिससे सारा जर्मनी बिगड़ उठे। वह एक-एक क़दम बढ़ा रहा था।

पर आश्चर्य की बात तो यह थी कि युद्ध समाप्त हुए छः बरस बीत गये पर अभी तक किसी के कान पर जूँ तक न रेंगी। इतने ही समय में, १८०६-१८१३ के बीच, पूरी तरह से हारे हुए होने पर भी प्रशिया सँभल कर उठ खड़ा हुआ था, पर यहाँ अभी तक कुछ नहीं हुआ।

सन् १९२३ में, असल में, यह बात स्पष्ट हुई कि इस युद्ध-द्वारा फ़्रांस का असली लक्ष्य क्या था। आलसास् लोरेन तक ही बात न थी। और धीरे-धीरे क्षति-पूर्ति की रक़में वसूल करने के लिए ही फ़्रांस ने अपना रक्त नहीं बहाया था। वह जर्मनी को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ देना और इनमें के मूल्यवान् प्रान्त अपने अधिकार में ले लेना चाहता था।

हम यह मानते हैं कि १९१८ के नवम्बर में जर्मनी एकाएक पस्त हो गया। वह घटना विद्युत्-गति की शीघ्रता से हुई, पर जर्मनी की सेनायें अर्से तक जर्मनी और बेल्जियम के प्रान्तों में पड़ी रहीं। सबसे पहले फ़्रांस के सामरिक नेताओं को इनको निकाल बाहर करने की चिन्ता थी। जब तक हमारे सैनिक उनके देश में थे तब तक उनको चैन नहीं थी।

इँगलैंड तो इतना ही चाहता था कि जर्मनी की व्यवसाय-शक्ति टूट जाय और वह द्वितीय श्रेणी की शक्ति में परिणत हो जाय। वह इसका लोप नहीं चाहता था, वरन् भविष्य में फ़्रांस के लिए एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे जर्मनी की उसे ज़रूरत थी। पर फ़्रांस की मंशा कुछ और थी। वह जर्मनी को ग्रास कर लेना चाहता था। यहीं से इँगलैंड और फ़्रांस के बीच एक वैमनस्य-सा आरम्भ हो गया। और यह वैमनस्य तब और भी स्पष्ट हो गया जब फ़्रांस ने जर्मनी के रूर प्रान्त पर क़ब्ज़ा कर लिया। यहाँ की कोयले की खानें जगत्-प्रसिद्ध हैं। अब यहाँ पर यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध में असली विजय फ़्रांस की और उसके सेनापति मार्शल 'फ़ाश' की हुई, न कि ब्रिटिश राजनीति की।

अब परिस्थिति ऐसी थी कि कल के मित्र आज के शत्रु में परिणत हो जाते। ब्रिटेन के नेता और राजनीतिज्ञ ही भर नही, यहाँ के सर्वसाधारण को फ़्रांस की इन हरकतों से बड़ा असंतोष हो रहा था और खुल्लमखुल्ला यह असंतोष प्रकट भी किया जा रहा था। और यही हाल इटली का भी था। उसका भी फ़्रांस से प्रेम-सम्बन्ध लड़ाई के साथ ही समाप्त हो चुका था।

यह एक स्वर्ण सुयोग था इन दोनों राष्ट्रों (इँगलैंड और इटली) से मैत्री स्थापित कर लेने का। फिर फ़्रांस की एक न चलती।

यही रूरवाली समस्या जर्मनी के लिए वरदान सिद्ध हो सकती थी। पर हमारे यहाँ कोई अनवर पाशा तो था नहीं। यहाँ तो हर

क्यूनो साहब चान्सलर थे। इन्होंने कहा—'अच्छा, फ़्रांस कोयला चाहता है, देखें वह कितना कोयला ले जाता है।' इन्होंने सोचा था कि मार्क्सवादियों की मदद से रूर की खानों में हड़ताल करा देंगे और फ़्रांसवाले अपने आप छोड़कर चले जायँगे। कितनी मूर्खतापूर्ण और घातक योजना थी! पर क्यूनो तो हमारे यहाँ के 'प्रधान' 'जातीय' 'राजनीतिज्ञ' थे।

हड़ताल के लिए मार्क्सवादी श्रमिक संघों का सहारा लिया ही गया। इन यहूदियों ने एक ओर तो अपनी जेबें खूब भरीं क्यूनो के रुपयों से, दूसरी ओर जर्मनी पर हड़ताल भी करा दी। पर जहाँ सैनिक शासन हो वहाँ कहीं हड़ताल और अक्रिय विरोध से काम चलता है? इससे बढ़कर मूर्खता की कोई बात हो ही नहीं सकती।

जैसे ही ट्रेड यूनियनवाले अपने संदूक़ क्यूनो के रुपयों से भर चुके और यह तय हुआ कि इस सविनय अवज्ञा के स्थान पर सक्रिय आक्रमण किया जाय वैसे ही ये सबके सब धूर्त शृगालों की तरह रफ़ूचक्कर हो गये। हर क्यूनो ने विश्राम लिया।

पर मैं तो मुसोलिनी का क़ायल हूँ। उस महान् देशभक्त ने कभी इटली के घरेलू शत्रुओं से सौदा नहीं किया। मुसोलिनी अपने इन्हीं गुणों से संसार का एक महापुरुष कहलाता है। उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि देश के मार्क्सवादी शत्रुओं का अन्त करके ही दम लेंगे। इस महान् नेता के सामने हमारे यहाँ के नेता कितने छोटे मालूम होते हैं।

अस्तु, पर वह घोर पतन शुरू हुआ और करोड़ों रुपये बरबाद करने के बाद तथा सहस्रों जर्मनों के बलिदान के बाद जब वह समझौता हुआ तब राष्ट्र-द्वारा किये गये जाति के इस अपमान के विरुद्ध विद्रोहाग्नि देश भर में भभक उठी। अपने ही राष्ट्र-द्वारा जाति के इस प्रकार लाञ्छित होने और विश्व के उपहास की सामग्री बनने का इससे बड़ा उदाहरण कहीं नहीं मिलेगा। पर तब यहाँ के करोड़ों देशवासियों

को यह विश्वास हो गया कि जब तक यहाँ के आस्तीन के साँप को पाँव-तले कुचलकर देश के बाहर न फेंक दिया जाय और यहाँ की सारी पद्धति में आमूल परिवर्तन न किया जाय तब तक जर्मनी का कल्याण नहीं हो सकता।

इस पुस्तक में यहाँ पर मैं १९२४ की वसन्त-ऋतु में अपने विचार के समय कहा हुआ अपना अन्तिम वाक्य दुहराऊँगा—

"यद्यपि जज लोग हमारे काम को अपराध सिद्ध कर प्रसन्न हो रहे होंगे, पर सत्य का बड़ा साक्षी और बड़ा क़ानून इतिहास इस निर्णय को फाड़ते समय मुसकिरायेगा और हम सभों को निर्दोष घोषित करेगा।"

मैं यहाँ १९२३ की उन घटनाओं और उनके कारणों पर प्रकाश नहीं डालना चाहता; क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं। और फिर उन घावों को उधेड़ने से ही क्या लाभ जो अभी पुज नहीं सके हैं और न उन लोगों के अपराध की चर्चा से कोई प्रयोजन है जिनका मार्ग चाहे दूसरा रहा हो पर जिनके हृदय में अपनी जाति के प्रति सच्चा प्रेम था।

---

# परिशिष्ट

## हिटलर के २५ प्वाइंट

हिटलर ने अपनी २५ फ़रवरी सन् १९२० ईसवीवाली पहली सभा में संसार के सामने अपना जो कार्यक्रम घोषित किया था उसकी २५ धारायें ये हैं—

### कार्यक्रम

नेताओं की यह राय नहीं है कि इस प्रोग्राम में बताये हुए कार्यों के पूर्ण हो जाने के बाद नये प्रोग्राम बनते चलें जिससे पार्टी का अस्तित्व बना रहे।

( १ ) आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के आधार पर हमारी यह माँग है कि सभी जर्मन एक होकर एक महान् जर्मनी की रचना करें।

( २ ) हमारी माँग है कि वर्साई और सेन जर्मन की सन्धियाँ रद कर दी जायँ और अन्य जातियों के साथ व्यवहार में जर्मनों से समता का व्यवहार किया जाय।

( ३ ) हम अपने लोगों के आधार के लिए भूमि और राज्य (उपनिवेश) चाहते हैं जिसमें हम अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या को बसावें।

( ४ ) जाति के लोग ही राष्ट्र के नागरिक हो सकेंगे। जर्मन-रक्त के लोग ही जर्मन-जाति के माने जायँगे, उनका मत चाहे जो हो। अतः कोई यहूदी हमारी जाति का नहीं माना जा सकता।

( ५ ) जो कोई राष्ट्र का नहीं है वह अतिथि के रूप में रह सकता है पर वह विदेश-क़ानून का पाबन्द ही माना जायगा।

( ६ ) वोट का अधिकार केवल नागरिक को होगा। इसलिए राष्ट्र के सारे पद नागरिकों को ही दिये जायँ।

( ७ ) राष्ट्र का पहला कर्त्तव्य नागरिकों की जीविका और उद्योग-धन्धों में उन्नति करना होगा।

( ८ ) ग़ैर जर्मनों का यहाँ आकर बसना बन्द किया जायगा। हमारी माँग है कि २ अगस्त १९१४ के पहले तक जितने अनार्य जर्मनी में आये उनको राष्ट्र के बाहर चले जाने पर बाध्य किया जाय।

( ९ ) स्वत्वों और कर्त्तव्यों के ख़याल से राष्ट्र के सब नागरिक समान हैं।

( १० ) प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह अपने शरीर या मस्तिष्क से काम करे। विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तिगत काम से सार्वजनिक उन्नति में बाधा न पड़ने पावेगी।

इसलिए हमारी माँग है कि—

( ११ ) जो आय काम करके नहीं पैदा की गई वह रद कर दी जाय।

( १२ ) प्रत्येक युद्ध में जाति के धन-जन की असाधारण क्षति हुई है और इस कारण युद्ध की स्थिति से व्यक्तिगत आर्थिक लाभ उठाना अपराध माना जायगा। इसलिए हमारी माँग है कि युद्ध के सिलसिले में प्राप्त की हुई सब सम्पत्ति ज़प्त कर ली जाय।

( १३ ) हमारी माँग है कि अब तक कम्पनियों (ट्रस्ट) द्वारा जितने व्यापार हो रहे हैं उनका जातीयकरण कर दिया जाय।

( १४ ) हमारी माँग है कि थोक व्यापार का लाभ विभक्त कर दिया जाय।

( १५ ) हम वृद्धावस्था के लिए राष्ट्रीय सहायता चाहते हैं।

( १६ ) हम एक स्वस्थ मध्यवर्ग की सृष्टि करना चाहते हैं और थोक व्यापार को समाजगत कर देना चाहते हैं, और सस्ती दर पर छोटे व्यापारियों को दिया जाना सम्भव बनाना चाहते हैं।

( १७ ) हम भूमि-क़ानून में अपनी जातीय आवश्यकता के अनुसार सुधार चाहते हैं यानी ऐसा क़ानून बन जाय ताकि बिना मावज़े के जातीय काम के लिए ज़मीन ज़प्त की जा सके। हम चाहते हैं कि भूमि-ऋण पर से सूद बन्द कर दिया जाय और भूमि के सम्बन्ध में सब प्रकार का सट्टा बन्द किया जाय।*

(१८) हम चाहते हैं कि जो जाति-हित के विरुद्ध कार्य करें उन पर बेधड़क मुक़दमा चलाया जाय, चाहे वे किसी भी मत के हों। जाति के विरुद्ध अपराध करनेवालों, सूदख़ोर और मुनाफ़ेबाज़ों को मृत्यु-दण्ड दिया जाय, उनका मत चाहे जो हो।

(१९) हमारी माँग है कि विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में रोमन लॉ के स्थान पर नई क़ानूनी व्यवस्था सारे जर्मनी के लिए बने।

(२०) हमारी माँग है कि सारे जर्मनों के लिए शिक्षा की सुविधा करने को देश की शिक्षा-पद्धति में उचित आमूल परिवर्तन किये जायँ। व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए सभी शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में मौलिक परिवर्तन किये जायँ। हमारी माँग है कि दरिद्र परिवारों के होनहार बच्चों के लिए शिक्षा की सुविधा का प्रबन्ध राष्ट्र के खर्च से किया जाय।

(२१) हमारी माँग है कि राष्ट्र जातीय स्वास्थ्य की उन्नति का काम अपने हाथ में ले। इसके लिए माताओं और नवजात शिशुओं की रक्षा का भार राष्ट्र को लेना होगा। बच्चों को मेहनत-मज़दूरी से बचाना, व्यायाम और स्वास्थ्य-वर्द्धक खेलों में नियमित भाग लेना

---

*१७ धारा के सम्बन्ध में अपने मत को स्पष्ट करते हुए हिटलर ने १३ अप्रैल १९२८ को यह घोषणा निकाली।—

'बिना मावज़े के ज़मीन ज़ब्ती' की धारा जातीय हित की दृष्टि से रक्खी गई है। सबसे पहले यह यहूदी कम्पनियों की सट्टेबाज़ी का अन्त करने के लिए बनाई गई है।

क़ानूनन अनिवार्य होगा। युवकों की शरीरचर्या के लिए क्लब और व्यायाम-शालायें सरकारी इमदाद पावें।

(२२) हमारी माँग है कि वैतनिक सेना के स्थान में जातीय सेना संगठित की जाय।

(२३) हमारी माँग है कि प्रेस में झूठ और राजनीतिक धोखे-बाज़ी के विरुद्ध क़ानूनी लड़ाई छेड़ी जाय। जर्मनी के जातीय प्रेस की उत्पत्ति को सुगम बनाने के लिए हमारी माँग है कि—

( क ) सब पत्रों के सम्पादक तथा उनके सहायक जर्मन-जाति के हों और वे जर्मन-भाषा का व्यवहार करें।

( ख ) ग़ैर जर्मन-पत्रों के प्रकाशन के लिए राष्ट्र की विशेष अनुमति आवश्यक हो। इनके लिए जर्मन-भाषा का व्यवहार ज़रूरी नहीं है।

( ग ) ग़ैर जर्मनों द्वारा जर्मन-पत्रों को आर्थिक दान या किसी भी अन्य प्रकार से प्रभावित करना क़ानून द्वारा रोका जायगा। इस अपराध के दण्ड-स्वरूप वह पत्र बन्द कर दिया जायगा और वह ग़ैर जर्मन निर्वासित कर दिया जायगा।

जो पत्र जातीय हित की दृष्टि से नहीं निकाले जाते वे बन्द कर दिये जायँगे। साहित्य या कला के क्षेत्र में ऐसी प्रवृत्तियाँ क़ानूनन बन्द कर दी जायँगी जो जातीय हित के विरुद्ध समझी जायँ।

( २४ ) हमारी माँग है कि जहाँ तक जर्मन-जाति के नैतिक कल्याण को आघात पहुँचने का भय न हो वहाँ तक सभी धार्मिक मतों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो।

हमारी पार्टी ईसाई-मत की पोषक है पर सिद्धान्त रूप से किसी ख़ास मत से इसका विरोध नहीं है। यह पार्टी यहूदी वस्तुवाद की प्रवृत्ति का विरोध करती है और इसका दृढ़ विश्वास है कि हमारी जाति इस प्रवृत्ति से अलग रहकर ही स्वस्थ हो सकती है।

( २५ ) ऊपर कही हुई सब बातों को सम्भव बनाने के लिए हमारी

माँग है कि राष्ट्र में एक प्रबल केन्द्रीय शक्ति हो। समूचे साम्राज्य पर केन्द्रीय पार्लमेंट का एकाधिपत्य हो। कानफेडरेशन के विभिन्न राज्यों के संचालन के लिए अलग चेम्बर (व्यवस्थापिका सभायें) हों पर संबका नियंत्रण केन्द्रीय सत्ता से हो।

इस पार्टी के सदस्य उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शपथपूर्वक अग्रसर होंगे और आवश्यकता होने पर इसके लिए अपने प्राणों की आहुति देंगे।

म्यूनिच, २५ फ़रवरी, १९२०

---

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd., Allahabad.